गांव की अदालत

युवाओं का राजनीति में प्रवेश

ईमेल   : devendrabhajju@gmail.com

Published by SPI Publications, www.spipublications.in
SPI, the SPI logo, and Split Poetry India are trademarks of SPI Publications, or its affiliates.
ISBN-13: 978-81-990408-8-5

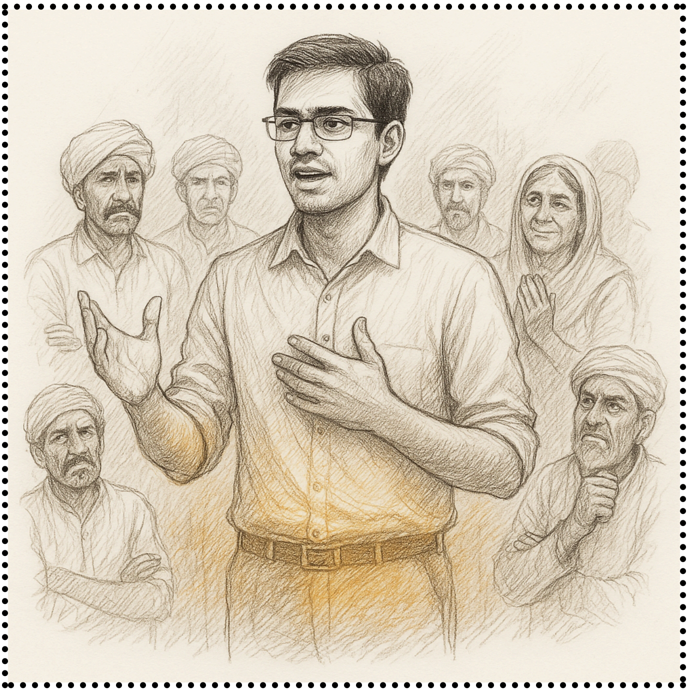
First Edition 2025

SPI Publications

Corporate & Editorial Office

117/2, Sector 37, Khandsa Road,
Gurgaon, Haryana 122 001
Phone: +91 98355 52940
Email: contact@spipublications.in
Website: www.spipublications.in

Processed and Printed in India



देवेन्द्र यादव

02 मार्च 2005

बिरौरा पहाड़ पृथ्वीपुर, जिला निवाड़ी मध्य प्रदेश

लेखक की बातः

"यह पुस्तक मैंने अपने गांव बिरौरा पहाड़ को केंद्र में रखकर लिखी है—एक ऐसा गांव जो मेरे जीवन की स्मृतियों, अनुभवों और संघर्षों का आधार रहा है। मेरे जीवन में कई ऐसे पड़ाव आए जब मुझे बार-बार यह महसूस हुआ कि हमारे देश की सामाजिक, प्रशासनिक और राजनीतिक जड़ों की सबसे गहरी परतें गांवों में ही दबी हैं। यही गांव भारत की आत्मा हैं, लेकिन आज यही आत्मा उपेक्षित, शोषित और पंगु होती जा रही है।

यह पुस्तक केवल कुछ शब्दों का संकलन नहीं, बल्कि उस पीड़ा की दस्तावेज़ी अभिव्यक्ति है जो भारत के करोड़ों गांवों में फैली हुई है। यह सिर्फ लेखन नहीं, गांव की आत्मा से निकली एक पुकार है, जो विकास के नाम पर विस्थापन, अन्याय और उपेक्षा झेल रहे आम ग्रामीण के मन की वेदना को स्वर देती है।

हम जिस भारत की कल्पना करते हैं—समानता, न्याय, शिक्षा, सम्मान और अवसर से भरे एक राष्ट्र की—वह शहरों की रोशनी में तो कहीं-कहीं झलकता है, लेकिन गांवों की गलियों में आज भी अंधेरा पसरा हुआ है। भारत का 'विकास' वहां से कोसों दूर खड़ा है, जहाँ कच्ची गलियां, टूटी पगडंडियाँ, लचर प्रशासन, और जातिगत शोषण की कहानियाँ अब भी जीवित हैं।

देश के जिन महान विचारकों और क्रांतिकारियों ने भारत को एक न्यायपूर्ण और समतामूलक समाज बनाने का सपना देखा था—जैसे स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी, नेताजी सुभाष चंद्र बोस, भगत सिंह, और डॉ. भीमराव

अंबेडकर—उनके विचार आज केवल किताबों और भाषणों तक सीमित रह गए हैं। उनके दिखाए रास्तों पर चलने की ईमानदार कोशिशें शायद ही कहीं दिखाई देती हैं, विशेषकर गांवों में, जहां इन विचारों की सबसे अधिक आवश्यकता है।

आज जो भारत वैश्विक मंचों पर गर्व से खड़ा है, उसका एक रूप चमकते शहरों में दिखाई देता है, लेकिन उसी भारत का एक और चेहरा है—जो गांवों में, खेतों में, टूटी झोपड़ियों में, और उपेक्षित जीवन में कैद है। यह असली भारत है, जहाँ लोग अब भी अंधविश्वास, जातिवाद, भेदभाव और भ्रष्ट प्रशासनिक ढांचे के बोझ तले दबे हुए हैं।

अगर भारत को सच में एक सम्मानित, सशक्त और समावेशी राष्ट्र बनाना है, तो हमें अपनी योजनाओं और प्रयासों का केंद्र गांवों को बनाना होगा। केवल शहरों को चमकाने से भारत नहीं चमकेगा। देश को मजबूत बनाना है, तो उसकी नींव—यानी गांवों—को मजबूत करना होगा।

आज आवश्यकता है उस सोच की, जो गांवों को भी वही महत्व दे जो शहरों को दिया जाता है। जब तक गांवों में शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय और सम्मान नहीं पहुंचेगा, तब तक भारत का वास्तविक उत्थान अधूरा रहेगा। इसीलिए यह पुस्तक एक लेखकीय प्रयास भर नहीं, बल्कि ग्रामीण भारत की चेतना की पुकार है—जिसे सुना जाना नितांत आवश्यक है।”

देवेन्द्र यादव

5 जुलाई 2025

गांव की आत्मा और वहां पनपती उम्मीदों की कहानी

गांवों की मिट्टी में वह ताकत है जो किसी भी राष्ट्र की नींव को मज़बूत बना सकती है। भारत जैसे देश में, जहां आज भी 60% से अधिक आबादी गांवों में रहती है, गांव केवल खेती-बाड़ी या परंपराओं का प्रतीक नहीं हैं, बल्कि वे इस देश की आत्मा हैं। गांवों ने न केवल हमें अनाज दिया है, बल्कि महान विचारक, क्रांतिकारी और समाज सुधारक भी दिए हैं। स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी, डॉ. भीमराव अंबेडकर जैसे महान व्यक्तित्वों ने गांवों की मिट्टी से ही प्रेरणा ली और दुनिया को एक नई दिशा दिखाई। लेकिन आज वही गांव डर, चुप्पी और आत्म-हीनता के दलदल में फंस गए हैं। जब गांव की नींव कमज़ोर हो, तो राष्ट्र का विकास और न्याय केवल किताबों, भाषणों और बड़े-बड़े वादों तक सिमट कर रह जाता है। गांव की सच्चाई को समझना इसलिए ज़रूरी है, क्योंकि यह हमें हमारी जड़ों की हकीकत से रूबरू कराता है और हमें यह अहसास दिलाता है कि बदलाव की शुरुआत कहां से करनी है।

गांव का आदमी किसी भी सरकारी कर्मचारी के खिलाफ आवाज़ नहीं उठाता—यह एक कड़वी सच्चाई है, जो गांवों की सबसे बड़ी कमज़ोरी को

दर्शाती है। गांव में रहने वाला एक आम इंसान, चाहे वह मज़दूर हो, किसान हो, या छोटा-मोटा दुकानदार, वह अन्याय को देखता तो है, लेकिन उसे सहने की आदत पड़ चुकी है। इसका सबसे बड़ा कारण है उसकी यह धारणा कि "न्याय अब पैसे से मिलता है, और हमारे पास पैसा नहीं है।" यह सोच केवल उसकी आर्थिक स्थिति का परिणाम नहीं है, बल्कि यह एक मानसिक गुलामी का प्रतीक है, जो उसे बचपन से सिखाई गई है। गांव में पंचायत सचिव रिश्वत लेता है, स्कूल का मास्टर स्कूल में सोता है, पटवारी रिकॉर्ड में हेरफेर करता है, और पुलिस वाला धमकाता है। लेकिन गांव का आदमी सिर्फ यह कहकर चुप हो जाता है, "हम गरीब हैं, क्या कर लेंगे?" यह चुप्पी न केवल उसकी हताशा को दर्शाती है, बल्कि यह सिस्टम को और अधिक भ्रष्ट और लुटेरा बनाती है। सिस्टम को पता है कि गांव में कोई लड़ाई नहीं लड़ेगा। जब कोई विरोध नहीं करता, तब अत्याचार एक आदत बन जाता है, और यह आदत धीरे-धीरे गांव की पूरी सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था को खोखला कर देती है।इस चुप्पी की जड़ें बहुत गहरी हैं। गांव का आदमी जानता है कि उसके पास सत्य है, लेकिन वह यह भी जानता है कि सत्य को सुनने वाला कोई नहीं है। वह देखता है कि जो लोग सत्ता में हैं—चाहे वह स्थानीय प्रशासन हो, पंचायत हो, या पुलिस—वे सभी एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अगर वह एक के खिलाफ आवाज़ उठाता है, तो पूरा सिस्टम उसके खिलाफ खड़ा हो जाता है। इसके अलावा, गांव में सामाजिक दबाव भी बहुत बड़ा है। अगर कोई व्यक्ति सच बोलने की हिम्मत करता है, तो उसके अपने ही परिवार और पड़ोसी उसे चुप कराने की कोशिश करते हैं। उसे डराया जाता है कि "अगर तुमने सचिव की शिकायत की, तो तुम्हारा काम रुक जाएगा," या "अगर तुमने पुलिस से पंगा लिया, तो तुम्हें ही जेल में डाल दिया जाएगा।" यह डर इतना गहरा है कि वह सच बोलने से पहले सौ बार सोचता है। और जब वह सोचता है, तो वह यह निष्कर्ष निकालता है कि चुप रहना ही बेहतर है।लेकिन यह चुप्पी केवल उसकी हार नहीं है, बल्कि यह

सिस्टम की जीत है। जब गांव का आदमी चुप रहता है, तो भ्रष्टाचार करने वाले और अधिक बेखौफ हो जाते हैं। पंचायत सचिव रिश्वत लेना बंद नहीं करता, बल्कि उसकी रिश्वत की रकम बढ़ जाती है। स्कूल का मास्टर स्कूल आना ही बंद कर देता है, क्योंकि उसे पता है कि कोई उसकी शिकायत नहीं करेगा। पटवारी रिकॉर्ड में और अधिक हेरफेर करता है, क्योंकि उसे पता है कि कोई उससे सवाल नहीं पूछेगा। और पुलिस वाला धमकाने से डराने की ओर बढ़ जाता है, क्योंकि उसे पता है कि गांव का आदमी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इस तरह, गांव की चुप्पी सिस्टम को और अधिक भ्रष्ट और अत्याचारी बनाती है।

गांव का आदमी लड़ने से पहले ही हार मान लेता है—यह एक ऐसी सच्चाई है, जो गांवों की सामाजिक और मानसिक स्थिति को बहुत गहराई से दर्शाती है। गांव में रहने वाला व्यक्ति, चाहे वह कितना भी मेहनती या ईमानदार क्यों न हो, उसके पास साहस से ज़्यादा डर है। यह डर कई रूपों में सामने आता है—नौकरी का डर, समाज का डर, रिश्तेदारों का डर, और सबसे बड़ा डर "किसी से दुश्मनी" का। गांव में एक सामान्य व्यक्ति के लिए "दुश्मनी" का मतलब केवल व्यक्तिगत झगड़ा नहीं है, बल्कि यह एक सामाजिक बहिष्कार का रूप ले सकता है। अगर वह किसी प्रभावशाली व्यक्ति, जैसे पंचायत सचिव, सरपंच, या पुलिस वाले से पंगा लेता है, तो उसे डर होता है कि उसका पूरा परिवार और उसकी आने वाली पीढ़ियाँ इसकी कीमत चुकाएंगी। उसे डर होता है कि उसकी जमीन छीन ली जाएगी, उसका राशन कार्ड रद्द कर दिया जाएगा, या उसके बच्चों को स्कूल से निकाल दिया जाएगा। यह डर इतना गहरा है कि वह अन्याय को देखते हुए भी चुप रहना पसंद करता है।जब कोई युवा हिम्मत करके शिक्षक या सचिव के खिलाफ

आवाज़ उठाता है, तो गांव के लोग ही उसे दबाने लगते हैं। वे कहते हैं, "क्या ज़रूरत थी मुसीबत मोल लेने की?" या "किसी से लड़कर क्या पाओगे?" यह सोच गांव के सामाजिक ढांचे में इतनी गहरी पैठ बना चुकी है कि सच बोलना एक अपराध की तरह देखा जाता है। जो व्यक्ति सच के लिए लड़ता है, उसे समाज में अकेला कर दिया जाता है। उसके अपने ही परिवार वाले उससे किनारा कर लेते हैं, क्योंकि उन्हें डर होता है कि उनकी भी मुसीबत बढ़ेगी। इस तरह, गांव का सामाजिक ढांचा सच बोलने वाले को तोड़ने का काम करता है, और अन्याय करने वाले को और मज़बूत करता है।यह डर और हार की मानसिकता गांव के लोगों को एक ऐसी स्थिति में ले जाती है, जहां वे अन्याय को अपनी नियति मान लेते हैं। वे सोचते हैं कि "हम गरीब हैं, हमारा कोई हक नहीं है।" यह सोच न केवल उनकी हिम्मत तोड़ती है, बल्कि उनकी आने वाली पीढ़ियों को भी गुलामी की मानसिकता में धकेल देती है। जब एक बच्चा अपने पिता को अन्याय सहते हुए देखता है, तो वह भी यही सीखता है कि अन्याय को सहना ही उसकी नियति है। इस तरह, हार मानने की यह आदत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती रहती है, और गांव की स्थिति बद से बदतर होती जाती है।

गांवों में सिस्टम की हालत बद से बदतर होती जा रही है, और इसका सबसे बड़ा कारण है कि हम उसे सुधरने ही नहीं देना चाहते। सिस्टम की गंदगी को ढकने का काम खुद जनता करती है। गांव के लोग डरते हैं कि अगर उन्होंने सिस्टम के खिलाफ आवाज़ उठाई, तो उनकी जिंदगी और मुश्किल हो जाएगी। वे कहते हैं, "मास्टर साहब हैं, कुछ बोल दिया तो बच्चा फेल कर देंगे," या "पुलिस से मत उलझो, बहुत पावर में हैं," या फिर "सचिव की

शिकायत करोगे तो तुम्हारा फंड रोक देगा।" ये बातें सच्ची नहीं हैं, बल्कि ये गुलामी की सोच का परिणाम हैं। गुलामी का सबसे बड़ा लक्षण है अपनी आवाज़ खो देना, और गांव के लोग इस गुलामी में इतने गहरे डूब चुके हैं कि वे सिस्टम को सुधारने की बजाय उसकी गंदगी को ढकने में लगे रहते हैं।सिस्टम का यह भ्रष्ट चेहरा गांव के हर कोने में दिखता है। पंचायत सचिव, जो गांव के विकास के लिए जिम्मेदार है, वह रिश्वत लेता है। स्कूल का मास्टर, जो बच्चों को शिक्षा देना चाहिए, वह स्कूल में सोता है। पटवारी, जो जमीन के रिकॉर्ड की देखभाल करता है, वह रिकॉर्ड में हेरफेर करता है। और पुलिस, जो गांव की सुरक्षा के लिए है, वह गांव वालों को धमकाती है। लेकिन गांव का आदमी इन सबके खिलाफ आवाज़ नहीं उठाता, क्योंकि उसे डर है कि अगर उसने ऐसा किया, तो सिस्टम उसे कुचल देगा। यह डर इतना गहरा है कि वह सिस्टम की गंदगी को देखते हुए भी चुप रहना पसंद करता है।लेकिन सच यह है कि सिस्टम तभी तक मज़बूत है, जब तक जनता चुप रहती है। अगर गांव के लोग एकजुट होकर सिस्टम के खिलाफ आवाज़ उठाएं, अगर वे फॉर्मल शिकायतें करें, अगर वे मिलकर विरोध करें, तो सिस्टम को झुकना ही पड़ेगा। सिस्टम की ताकत जनता के डर से ही आती है। जब जनता डरना बंद कर देगी, जब वह अपनी आवाज़ उठाना शुरू कर देगी, तब सिस्टम को सुधरना ही होगा। लेकिन गांव के लोग इस सच्चाई को समझते ही नहीं। वे सोचते हैं कि सिस्टम उनके खिलाफ है, और वे उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। यह सोच ही सिस्टम को और अधिक भ्रष्ट बनाती है।

गांवों में एकता की कमी एक बहुत बड़ी समस्या है। गांव के लोग जाति, बिरादरी और वोट के समय तो एक हो जाते हैं, लेकिन जब बात सच और न्याय की आती है, तब सब अलग हो जाते हैं। यह एक ऐसी सच्चाई है, जो

गांवों की सामाजिक संरचना को बहुत गहराई से प्रभावित करती है। जब कोई गरीब लड़का उच्च जाति के अत्याचार के खिलाफ आवाज़ उठाता है, तो उसके अपने ही—दलित, गरीब और मज़दूर—उसके साथ नहीं खड़े होते। बल्कि वे उसे रोकते हैं और कहते हैं, "क्या करेगा लड़कर?" या "हमें भी फंसवा देगा।" यह डर और अलगाव गांव के लोगों को एकजुट होने से रोकता है, और इस वजह से अन्याय करने वाले और मज़बूत हो जाते हैं।दूसरी ओर, उच्च जाति के लोग, चाहे वे आपस में कितना भी लड़ें, लेकिन अपने ही जाति के दोषी नेता को कभी सार्वजनिक रूप से गलत नहीं कहते। यह एक सोची-समझी सामूहिकता है, जो उन्हें मज़बूत बनाती है। लेकिन गरीबों में यह सामूहिकता नहीं है। वे एक बिखरी हुई डरपोक भीड़ की तरह हैं, जो अपने हक के लिए लड़ने की बजाय डरना पसंद करती है। इस बिखराव की वजह से गांव में अन्याय की जड़ें और गहरी होती जा रही हैं। अगर गांव के लोग एकजुट होकर अन्याय के खिलाफ लड़ें, तो कोई भी सत्ता उनके सामने नहीं टिक सकती। लेकिन यह एकता गांव में कहीं दिखाई नहीं देती ।

शिक्षा का असली मतलब है अपने अधिकारों को जानना, अन्याय के खिलाफ खड़ा होना, और विवेकपूर्ण निर्णय लेना। लेकिन गांव की शिक्षा प्रणाली इस सोच को पैदा करने में पूरी तरह विफल रही है। गांव के स्कूलों में शिक्षकों की निष्क्रियता, राजनीतिक दखल, और जातीय पक्षपात ने नई पीढ़ी को भी कायर और अंधभक्त बना दिया है। जो बच्चा स्कूल में शिक्षक को सैल्यूट करना सीखता है, लेकिन सवाल करना नहीं, वह बड़ा होकर भी झूठ के खिलाफ खड़ा नहीं हो पाता। गांव के स्कूलों में शिक्षा केवल किताबी ज्ञान तक सीमित है, और वह भी अधूरी। शिक्षक या तो स्कूल आते ही नहीं, या अगर आते हैं, तो वे बच्चों को पढ़ाने की बजाय अपने निजी कामों में

व्यस्त रहते हैं।इसके अलावा, गांव के स्कूलों में जातीय पक्षपात भी एक बड़ी समस्या है। उच्च जाति के शिक्षक अक्सर गरीब और दलित बच्चों को नज़रअंदाज़ करते हैं। उन्हें लगता है कि ये बच्चे पढ़-लिखकर कुछ खास नहीं कर सकते। इस वजह से गरीब और दलित बच्चों में आत्मविश्वास की कमी हो जाती है, और वे अपनी जिंदगी में आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। शिक्षा, जो एक बच्चे को सशक्त बनानी चाहिए, वह गांवों में उसे और कमज़ोर बना रही है।

गांवों में प्रशासनिक पदों पर बैठे लोग—जैसे सरपंच, सचिव, लेखपाल, पटवारी, स्कूल शिक्षक, और पुलिस—अक्सर अपनी ताकत का गलत इस्तेमाल करते हैं। वे जनता की सेवा करने की बजाय अपना दबदबा बनाने में लगे रहते हैं। गांव के लोग इनसे डरते हैं और इनसे बात करने से कतराते हैं। उन्हें बचपन से यही सिखाया गया है कि "बड़ों से पंगा मत लो," और "सरकारी आदमी से उलझना बेवकूफी है।" लेकिन सच यह है कि ये सभी पद जनता की सेवा के लिए हैं, न कि शोषण के लिए।अगर गांव के लोग इनकी जवाबदेही तय करें, फॉर्मल शिकायतें करें, और मिलकर विरोध करें, तो सिस्टम को झुकना ही पड़ेगा। लेकिन अकेला एक व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। उसे अपने साथियों का साथ चाहिए, और यह साथ गांव में मिलना मुश्किल है। गांव के लोग डरते हैं कि अगर उन्होंने प्रशासन के खिलाफ आवाज़ उठाई, तो उनकी जिंदगी और मुश्किल हो जाएगी। यह डर ही प्रशासन को और अधिक बेखौफ बनाता है।

गांव में परिवर्तन एक दिन में नहीं होगा, लेकिन यह नामुमकिन भी नहीं है।

अगर हम शुरुआत करें, अगर हम गांव की चुप्पी को तोड़ें, तो बदलाव ज़रूर आएगा। हर दलित, गरीब, मज़दूर, अल्पसंख्यक और जागरुक युवा को साथ आना होगा। हमें यह समझना होगा कि हमारी स्थिति के 80% जिम्मेदार हम खुद हैं, क्योंकि हम लड़ना नहीं चाहते, सिर्फ सहना चाहते हैं। जब तक हम बोलना नहीं सीखेंगे, जब तक हम सवाल नहीं उठाएंगे, तब तक कोई नेता, कोई भगवान, कोई संविधान हमारी मदद नहीं कर सकता।

सच्चाई की लड़ाई आसान नहीं है। सच्चाई को लेकर रिश्ते खराब हो सकते हैं, कोई सचिव या मास्टर दुश्मन बन सकता है, और कोई आपको बगावत करने वाला कह सकता है। लेकिन सच्चाई की लड़ाई में आपको अकेले चलना पड़ेगा। जब आप चलना शुरु करेंगे, धींरे-धींरे लोग आपके साथ जुड़ेंगे। आज के समय में सबसे बड़ी क्रांति है डर को हराना। अगर आप डर को हरा देते हैं, तो कोई भी सत्ता आपके सामने नहीं टिक सकती। वो एक कविता बिलकुल सही लिखी हे जिसने भी लिखी है -

युद्ध नहीं जिनके जीवन में , वो भी कितने अभागे होंगे।

या तो रण छोड़ा होगा,, या रण से भागे होंगे।

गांवों की चुप्पी अब चीख बननी चाहिए। हमें तय करना होगा कि क्या हम उसी सड़ी-गली व्यवस्था में घुटते रहेंगे, या अपने बच्चों को न्याय, शिक्षा और समानता की हवा देंगे। जिस दिन गांव का गरीब और दलित अपने अधिकारों के लिए खड़ा हो जाएगा, उस दिन यह व्यवस्था खुद टूट जाएगी। लेकिन शुरुआत आपको करनी होगी—एक सच्चे क्रांतिकारी की तरह, बिना डर, बिना लालच, सिर्फ सच्चाई के साथ। गांव की सच्चाई को समझना

इसलिए ज़रूरी है, क्योंकि यह हमें हमारी कमज़ोरियों का आलम दिखाता है और एक नई जागृति की राह सुझाता है—एक ऐसी राह, जो हमें गुलामी से आज़ादी की ओर ले जाए।

गांव में सामाजिक भेदभाव की जड़े

भारत के गांवों में सदियों से जाति-आधारित सामाजिक संरचना ने लोगों के जीवन को दिशा दी है। यह संरचना केवल सामाजिक व्यवस्था का हिस्सा नहीं थी, बल्कि यह लोगों की सोच, व्यवहार और जीवनशैली का आधार बन गई थी। प्राचीन काल से ही वर्ण व्यवस्था, जो बाद में जाति व्यवस्था में बदल गई, ने समाज को विभिन्न वर्गों में बांट दिया। इस व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में लोगों को उनके जन्म के आधार पर वर्गीकृत किया गया। लेकिन समय के साथ यह व्यवस्था कठोर हो गई और शूद्रों, जिन्हें बाद में दलित कहा गया, को समाज के सबसे निचले पायदान पर धकेल दिया गया। गांवों में यह भेदभाव न केवल सामाजिक स्तर पर, बल्कि आर्थिक, धार्मिक और शैक्षिक स्तर पर भी गहरे तक प्रभाव डालता रहा।हालांकि, स्वतंत्रता के बाद भारत में सामाजिक सुधार के कई प्रयास हुए। संविधान में समानता का अधिकार दिया गया, और डॉ. भीमराव अंबेडकर जैसे महान नेताओं ने दलितों के उत्थान के लिए अथक प्रयास किए। समय के साथ कई रुढ़ियाँ टूटीं और नई पीढ़ी में बदलाव की लहर आई। आज कई गांवों में दलित बच्चे स्कूल में अन्य बच्चों के साथ बैठकर भोजन करते हैं, सार्वजनिक कुओं से पानी भरते हैं, मंदिरों में प्रवेश करते हैं, और शादी में घोड़ी पर चढ़ते हैं—ऐसी चीजें जो कुछ दशक पहले अकल्पनीय थीं। लेकिन यह कहना कि सामाजिक भेदभाव पूरी तरह समाप्त

हो गया है, एक भ्रम होगा। आज भी भारत के गांवों में जातीय भेदभाव खुले और छिपे दोनों रूपों में मौजूद है। यह भेदभाव न केवल पुरानी पीढ़ी में, बल्कि नई पीढ़ी के बच्चों में भी देखा जा सकता है, जो जातिसूचक गालियों और भेदभावपूर्ण व्यवहार को सामान्य मानते हैं। इस लेख में हम गांवों में सामाजिक भेदभाव की जड़ों, इसके वर्तमान स्वरूप, और बदलाव की संभावनाओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

जाति व्यवस्था की उत्पत्ति और विकास

जाति व्यवस्था की शुरुआत प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था के रूप में हुई थी। वेदों में वर्ण व्यवस्था का उल्लेख मिलता है, जहां समाज को चार वर्णों में बांटा गया था—ब्राह्मण (ज्ञान और धार्मिक कार्यों के लिए), क्षत्रिय (शासन और युद्ध के लिए), वैश्य (व्यापार और कृषि के लिए), और शूद्र (सेवा और शारीरिक श्रम के लिए)। यह व्यवस्था शुरुआत में कार्य-आधारित थी, लेकिन धीरे-धीरे यह जन्म-आधारित हो गई। शूद्रों को सबसे निचले पायदान पर रखा गया, और

उन्हें अछूत माना जाने लगा। मध्यकाल तक आते-आते यह व्यवस्था और कठोर हो गई। मनुस्मृति जैसे ग्रंथों ने शूद्रों के खिलाफ कठोर नियम बनाए, जैसे उन्हें वेद पढ़ने की अनुमति न देना, मंदिरों में प्रवेश न देना, और सामाजिक आयोजनों से दूर रखना।गांवों में यह व्यवस्था और गहरे तक प्रभाव डालती थी, क्योंकि गांवों में सामाजिक संरचना बहुत कठोर थी। गांव का ढांचा इस तरह बनाया गया था कि उच्च जातियां—जैसे ब्राह्मण, ठाकुर, या यादव—गांव के केंद्र में रहते थे, जहां मंदिर, कुआं, और पंचायत भवन होते थे। वहीं, दलित बस्तियां गांव के बाहर होती थीं, जहां उन्हें गंदगी और अभाव में रहना पड़ता था। दलितों को न केवल सामाजिक रूप से अलग

रखा जाता था, बल्कि उन्हें आर्थिक रुप से भी शोषित किया जाता था। वे मुख्य रुप से मज़दूरी, चमड़े का काम, या सफाई जैसे कार्य करते थे, जिन्हें उच्च जातियां "नीच" मानती थीं।

औपनिवेशिक काल और जाति व्यवस्था

औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों ने इस व्यवस्था को और पुख्ता किया। उन्होंने जाति व्यवस्था को अपने प्रशासनिक ढांचे में शामिल कर लिया और जाति-आधारित जनगणना शुरु की, जिसने लोगों को और सख्ती से उनकी जाति के खांचों में बांट दिया। अंग्रेजों ने "मार्शल रेस" और "नॉन-मार्शल रेस" जैसी अवधारणाओं को बढ़ावा दिया, जिसने कुछ जातियों को दूसरों से श्रेष्ठ माना। लेकिन दलितों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। वे अब भी शोषण और भेदभाव का शिकार थे। अंग्रेजों ने गांवों में अपनी सत्ता को मज़बूत करने के लिए उच्च जातियों को अपने साथ मिला लिया, जिससे उच्च जातियों का दबदबा और बढ़ गया।

स्वतंत्रता के बाद की स्थिति

स्वतंत्रता के बाद भारत ने एक समतामूलक समाज की स्थापना का सपना देखा। संविधान में अनुच्छेद 14, 15, और 17 के तहत समानता का अधिकार दिया गया और छुआछूत को गैरकानूनी घोषित किया गया। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने दलितों के उत्थान के लिए कई कानूनी और सामाजिक सुधार किए। रिजर्वेशन सिस्टम लागू किया गया, जिसने दलितों को शिक्षा और नौकरियों में अवसर प्रदान किए। लेकिन गांवों में यह बदलाव उतना प्रभावी नहीं हो सका, जितना होना चाहिए था। गांवों में सामाजिक संरचना इतनी

गहरी थी कि कानूनी बदलाव भी इसे पूरी तरह तोड़ नहीं सके। आज भी गांवों में जाति-आधारित भेदभाव कई रूपों में मौजूद है।

खुले रूप में भेदभाव

आज भी भारत के कई गांवों में जातीय भेदभाव खुले रूप में देखने को मिलता है। कुछ गांवों में दलितों को गांव के कुएं से पानी भरने की अनुमति नहीं दी जाती। वे अलग कुओं या हैंडपंप का इस्तेमाल करने को मजबूर होते हैं। सार्वजनिक भोज या बंटवारे में दलितों को अलग बैठाया जाता है। शादी-विवाह के मौकों पर, जब एक ही स्थान पर भोजन करने की बात आती है, तो उच्च जातियों के लोग इससे कतराते हैं। वे अब भी दलितों के साथ एक पंगत में बैठना अपवित्रता मानते हैं।उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के एक गांव में हाल ही में एक घटना हुई, जहां एक दलित लड़के ने शादी में घोड़ी पर चढ़ने की कोशिश की। उच्च जाति के लोगों ने इसका विरोध किया और लड़के के परिवार पर हमला कर दिया। इस तरह की घटनाएं दिखाती हैं कि भले ही कानून समानता की बात करता हो, लेकिन सामाजिक मानसिकता अभी भी पुराने ढर्रे पर चल रही है।

छिपे हुए भेदभाव

जातीय भेदभाव अब केवल खुले रूप में ही नहीं, बल्कि छिपे हुए रूप में भी मौजूद है। स्कूलों में, जहां दलित और उच्च जाति के बच्चे एक साथ पढ़ते हैं, वहां भी भेदभाव देखने को मिलता है। शिक्षक, जो अक्सर उच्च जाति से होते हैं, दलित बच्चों को नज़रअंदाज़ करते हैं। उन्हें लगता है कि ये बच्चे पढ़-लिखकर कुछ खास नहीं कर सकते। इस वजह से दलित बच्चों में

आत्मविश्वास की कमी हो जाती है।सामाजिक आयोजनों में भी यह भेदभाव छिपे रूप में दिखता है। भले ही दलितों को मंदिर में प्रवेश की अनुमति दे दी जाए, लेकिन उन्हें मंदिर के मुख्य गर्भगृह में जाने से रोका जाता है। वे बाहर से ही पूजा करने को मजबूर होते हैं। इसी तरह, गांव के पंचायत भवन में होने वाली बैठकों में दलितों को अक्सर नीचे बैठाया जाता है, जबकि उच्च जाति के लोग कुर्सियों पर बैठते हैं। यह भेदभाव इतना सामान्य हो गया है कि लोग इसे स्वीकार करने लगे हैं।

बच्चों में भेदभाव की मानसिकता

सबसे चिंताजनक बात यह है कि यह भेदभाव बच्चों में भी पनप रहा है। स्कूलों में, खेल के मैदानों में, और सार्वजनिक जीवन में बच्चे जातिसूचक गालियाँ देते हुए देखे जाते हैं—जैसे 'चमार', 'बसोर', इत्यादि। ये शब्द केवल अपशब्द नहीं हैं, बल्कि मानसिक शोषण के औज़ार हैं, जो एक पूरे समुदाय को नीचा दिखाते हैं। चौंकाने वाली बात यह है कि यह भाषा बच्चों को उनके माता-पिता और बड़े-बुजुर्गों से मिलती है।उदाहरण के लिए, एक गांव के स्कूल में एक घटना हुई, जहां एक उच्च जाति का बच्चा अपने दलित सहपाठी को 'चमार' कहकर बुलाने लगा। जब शिक्षक से इसकी शिकायत की गई, तो शिक्षक ने इसे हल्के में लेते हुए कहा, "बच्चे तो ऐसे ही मज़ाक करते हैं।" यह घटना दिखाती है कि भेदभाव की मानसिकता कितनी गहरी है और यह कैसे नई पीढ़ी में हस्तांतरित हो रही है।

सकारात्मक बदलाव

पिछले कुछ दशकों में गांवों में कई सकारात्मक बदलाव देखने को मिले हैं। पहले जहां दलित बच्चों को स्कूल में बैठने तक की अनुमति नहीं होती थी, वहीं आज कई जगहों पर वे सरकारी स्कूलों में अन्य बच्चों के साथ एक साथ बैठकर भोजन करते हैं। एक समय था जब दलितों को कुएं से पानी भरने नहीं दिया जाता था, लेकिन अब कुछ गांवों में दलित भी सार्वजनिक कुओं का उपयोग करने लगे हैं। पहले जहां वे मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे, अब युवाओं की पहल से कुछ गांवों में वे धार्मिक आयोजनों में शामिल होने लगे हैं। यहाँ तक कि अब कई दलित युवक शादी में घोड़ी पर बैठने लगे हैं, जो कभी एक बड़ी चुनौती मानी जाती थी।ये बदलाव मुख्य रूप से नई पीढ़ी और शिक्षा की वजह से आए हैं। शिक्षा ने दलित युवाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागरुक किया है। सरकारी योजनाओं, जैसे रिजर्वेशन और स्कॉलरशिप, ने उन्हें स्कूल और कॉलेज तक पहुंचने में मदद की है। साथ ही, सामाजिक संगठनों और गैर-सरकारी संस्थाओं ने भी गांवों में जागरुकता फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

बदलाव की सीमाएं

लेकिन इन सकारात्मक बदलावों के बावजूद, सामाजिक भेदभाव पूरी तरह खत्म नहीं हुआ है। ये बदलाव सतही स्तर पर ही दिखते हैं। भले ही दलित बच्चे स्कूल में अन्य बच्चों के साथ बैठकर भोजन कर लें, लेकिन स्कूल के बाहर वे फिर से भेदभाव का शिकार हो जाते हैं। भले ही कुछ गांवों में दलित मंदिरों में प्रवेश कर लें, लेकिन मंदिर के मुख्य गर्भगृह में उन्हें अभी भी जाने की अनुमति नहीं है। भले ही कुछ दलित युवक शादी में घोड़ी पर चढ़ लें, लेकिन इसकी वजह से उन्हें हिंसा का सामना करना पड़ता है।सबसे बड़ी समस्या यह है कि सामाजिक भेदभाव की मानसिकता अभी भी गहरी है। उच्च जाति के लोग अब भी दलितों को अपने बराबर नहीं मानते। वे बदलाव

को सतही रूप से स्वीकार तो कर लेते हैं, लेकिन जब वही बदलाव उनकी व्यक्तिगत ज़िंदगी को प्रभावित करता है, तो वे इसका विरोध करने लगते हैं। उदाहरण के लिए, अगर एक उच्च जाति का व्यक्ति अपने बच्चे की शादी एक दलित से करने की बात करता है, तो उसका पूरा परिवार और समाज इसका विरोध करता है। यह विरोध केवल मौखिक नहीं होता—कभी परिवार का बहिष्कार, तो कभी सामाजिक बायकॉट, और कभी-कभी हिंसा तक की नौबत आ जाती है।

समाज का दोहरा रवैया

जब गांव का कोई युवा, चाहे वह किसी भी जाति से हो, इस भेदभाव के खिलाफ खड़ा होता है, तो उसे अक्सर अपने ही समाज से विरोध झेलना पड़ता है। यह समाज जो बदलाव की बातों को सतही रूप से तो स्वीकार कर लेता है, लेकिन जब वही बदलाव घर के दरवाज़े पर दस्तक देता है, तो उसका विरोध करने लगता है। विशेष रूप से उच्च जातियों के लोग, जिन्हें यह डर होता है कि अगर यह बदलाव स्वीकार कर लिया गया, तो उनकी 'सामाजिक श्रेष्ठता' को चुनौती मिलेगी।उदाहरण के लिए, राजस्थान के एक गांव में एक दलित युवक ने गांव के मंदिर में प्रवेश करने की कोशिश की। उसने कहा कि संविधान उसे यह अधिकार देता है। लेकिन गांव के उच्च जाति के लोगों ने उसका बहिष्कार कर दिया। उसके परिवार को गांव के कुएं से पानी भरने से रोक दिया गया, और उसकी छोटी बहन को स्कूल में ताने सुनने पड़े। इस तरह की घटनाएं दिखाती हैं कि भेदभाव के खिलाफ लड़ने वालों को कितना बड़ा सामाजिक दबाव झेलना पड़ता है।

'बाहर से बदलाव' की उम्मीद

इस विरोध की जड़ में केवल जाति का अहंकार नहीं, बल्कि यह भावना भी है कि समाज में जो क्रांति या बदलाव लाना है, वह 'बाहर से' आना चाहिए। गांव के लोग गांधी, लोहिया, अंबेडकर जैसे नेताओं की बात तो करते हैं, लेकिन जब उनका ही कोई बेटा-बेटी, पड़ोसी, या साथी इस विचारधारा को अपनाकर बदलाव की कोशिश करता है, तो उसे समाज का समर्थन नहीं, बल्कि विरोध मिलता है। लोग सोचते हैं कि बदलाव कोई बड़ा नेता, कोई सरकारी योजना, या कोई बाहरी व्यक्ति लाएगा। लेकिन जब उनके अपने ही गांव का कोई व्यक्ति बदलाव की कोशिश करता है, तो वे उसे रोकने लगते हैं।यह एक विडंबना है कि लोग बदलाव की बात तो करते हैं, लेकिन उसे अपनाने के लिए तैयार नहीं होते। वे चाहते हैं कि बदलाव हो, लेकिन उनकी अपनी ज़िंदगी में कोई बदलाव न आए। इस वजह से गांवों में बदलाव की गति बहुत धीमी है।

चुनावी राजनीति और भेदभाव

यह विडंबना ही है कि चुनाव के समय गांव में जाति की दीवारें थोड़ी देर के लिए गिरा दी जाती हैं। सभी दलों के नेता वोट मांगने दलित बस्तियों में जाते हैं, साथ खाना खाते हैं, नम्रता दिखाते हैं। लेकिन जैसे ही चुनाव समाप्त होता है, वही समाज फिर पुराने खांचों में बंट जाता है। जो दलित कल तक उम्मीदवार के साथ मंच पर था, वह आज फिर से मंदिर में बाहर बैठने को मजबूर होता है।उदाहरण के लिए, बिहार के एक गांव में एक चुनावी रैली के दौरान एक उम्मीदवार ने दलित बस्ती में जाकर उनके साथ खाना खाया और

वादा किया कि वह गांव में समानता लाएगा। लेकिन चुनाव जीतने के बाद उसने दलित बस्ती की ओर मुड़कर भी नहीं देखा। इस तरह की घटनाएं दिखाती हैं कि चुनावी राजनीति में जाति का इस्तेमाल केवल वोट पाने के लिए किया जाता है, न कि वास्तविक बदलाव के लिए।

शिक्षा की भूमिका

इन हालातों में जरूरी यह है कि सामाजिक चेतना का विस्तार हो। शिक्षा केवल डिग्रियों तक सीमित न हो, बल्कि वह सोच को बदलने का माध्यम बने। गांव के स्कूलों में बच्चों को यह सिखाना होगा कि जाति एक सामाजिक रचना है, न कि किसी की पहचान। उन्हें यह समझाना होगा कि हर इंसान बराबर है, चाहे वह किसी भी जाति से हो।शिक्षकों को भी इस दिशा में प्रशिक्षित करना होगा। अक्सर शिक्षक खुद भेदभावपूर्ण व्यवहार करते हैं, जो बच्चों में गलत संदेश जाता है। स्कूलों में ऐसे पाठ्यक्रम शामिल करने होंगे, जो समानता, भाईचारा, और सामाजिक न्याय की बात करें। साथ ही, स्कूलों में सामाजिक एकता को बढ़ावा देने वाले आयोजन करने होंगे, जैसे एक साथ भोजन करना, खेल-कूद में सभी बच्चों को बराबर मौका देना, और जाति-आधारित भेदभाव को सख्ती से रोकना।

युवाओं की भूमिका

गांव के युवाओं को, खासकर नई पीढ़ी को, यह समझना होगा कि बदलाव

किसी और से नहीं, हमसे ही होगा। अगर हम ही अपने ही समाज के अंदर से बदलाव लाने वाले लोगों का समर्थन नहीं करेंगे, तो फिर यह उम्मीद करना कि कोई बाहर से आएगा और हमारे हालात बदलेगा—यह एक भ्रम होगा।युवाओं को अपने गांव में जागरूकता अभियान चलाने होंगे। उन्हें अपने परिवार और पड़ोसियों को यह समझाना होगा कि भेदभाव न केवल गलत है, बल्कि यह पूरे समाज के विकास को रोकता है। जातिगत भेदभाव हमारे समाज की सबसे बड़ी बुराइयों में से एक है, जो समाज के हर क्षेत्र में विकास को धीमा कर देता है। जब किसी इंसान को सिर्फ उसकी जाति की वजह से नीचा दिखाया जाता है, उसके साथ अन्याय होता है, या उसे काम, शिक्षा या सम्मान से वंचित किया जाता है, तो उसकी प्रतिभा और मेहनत दोनों दब जाती हैं। सोचिए अगर कोई बच्चा पढ़ाई में तेज है, लेकिन सिर्फ इस वजह से स्कूल में तंग किया जाता है क्योंकि वह किसी पिछड़ी जाति से है, तो वह बच्चा डर के कारण स्कूल जाना छोड़ सकता है या अपनी क्षमता से कमतर बन सकता है। यही हाल नौकरी, व्यापार और राजनीति में भी होता है। जब लोगों को बराबरी का मौका नहीं मिलता, तो बहुत सारे होनहार लोग पीछे रह जाते हैं, और समाज उनकी काबिलियत का फायदा नहीं उठा पाता। इससे देश को योग्य डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक, वैज्ञानिक और नेता नहीं मिल पाते, क्योंकि वे जाति के नाम पर रोके जाते हैं। जातिगत भेदभाव न केवल गरीब और पिछड़े वर्गों को नुकसान पहुंचाता है, बल्कि पूरे समाज को पीछे खींचता है। यह नफरत, दूरी और अलगाव पैदा करता है, जिससे समाज में भाईचारा और विश्वास खत्म होने लगता है। लोग एक-दूसरे की मदद करने के बजाय एक-दूसरे को तोड़ने लगते हैं। जिन लोगों को जातिगत भेदभाव से लाभ मिलता है, वे सोचते हैं कि वे श्रेष्ठ हैं, जबकि वास्तव में वे भी समाज के बाकी हिस्सों से कट जाते हैं और उनका मन घमंड और भेदभाव से भर जाता है। दूसरी तरफ जो लोग पीड़ित होते हैं, वे अंदर ही अंदर टूट जाते हैं, और उनके मन में समाज के प्रति गुस्सा और दुख भरता है।

इस तरह जातिगत भेदभाव समाज में गहरी खाई बना देता है, जो पीढ़ियों तक चलती है और एकजुटता को खत्म कर देती है। जब समाज बंट जाता है, तो वह एक होकर देश की समस्याओं का हल नहीं निकाल सकता। जातिगत भेदभाव की वजह से बहुत से लोग शिक्षा से दूर रह जाते हैं, गरीबी में फंसे रहते हैं, और अपराध या निराशा की ओर चले जाते हैं। सरकार चाहे जितनी भी योजनाएं बना ले, अगर समाज में बराबरी नहीं होगी, तो उन योजनाओं का असर सीमित ही रहेगा। जातिगत भेदभाव केवल गांवों या गरीब इलाकों की समस्या नहीं है; यह शहरों, स्कूलों, ऑफिसों, अस्पतालों और राजनीति तक फैला हुआ है। यह एक ऐसी सोच है जो लोगों को इंसान की तरह नहीं, बल्कि जाति के आधार पर आंकती है। जब तक यह सोच नहीं बदलेगी, तब तक असली तरक्की नहीं हो सकती। आज भी कई जगहों पर दलितों को मंदिरों में जाने नहीं दिया जाता, उनके साथ खाने से लोग मना कर देते हैं, और उन्हें गंदी नजरों से देखा जाता है। यह सब केवल एक पुरानी सोच का नतीजा है, जो यह मानती है कि कुछ लोग जन्म से ही श्रेष्ठ होते हैं और कुछ लोग नीच। लेकिन सच्चाई यह है कि किसी भी इंसान की योग्यता उसके काम, सोच और मेहनत से तय होती है, न कि उसके जन्म से। जो समाज अपने लोगों को बराबरी का हक नहीं देता, वह कभी स्थायी रुप से आगे नहीं बढ़ सकता। जातिगत भेदभाव न केवल इंसान की आत्मा को चोट पहुंचाता है, बल्कि समाज की आत्मा को भी मारता है। जब कोई बच्चा यह देखता है कि उसके माता-पिता को केवल जाति की वजह से बेइज्जती झेलनी पड़ती है, तो उसका भरोसा समाज से उठ जाता है। जब वह बड़ा होता है, तो या तो वह भी टूट जाता है, या फिर उसी नफरत को आगे बढ़ाता है। इसलिए जरुरी है कि हम जाति के नाम पर लोगों को बांटना बंद करें और हर इंसान को उसकी मेहनत, सोच और नैतिकता के आधार पर पहचानें। अगर समाज में सबको बराबर का दर्जा मिलेगा, तो न केवल गरीब और वंचित लोग आगे आएंगे, बल्कि समाज में एकजुटता और विश्वास भी बढ़ेगा। इससे देश को

अधिक बुद्धिमान, मेहनती और जिम्मेदार नागरिक मिलेंगे, जो देश को हर क्षेत्र में आगे बढ़ाएंगे। जब जातिगत भेदभाव खत्म होगा, तभी समाज में असली शिक्षा, असली स्वास्थ्य, और असली रोजगार पहुंचेगा। स्कूलों में बच्चे बिना डर के पढ़ेंगे, कॉलेजों में छात्र खुलकर सोचेंगे, और नौकरी में लोग केवल योग्यता के आधार पर चुने जाएंगे। तब जाकर समाज में सही मायनों में समानता और न्याय की स्थापना होगी। इसलिए जातिगत भेदभाव को मिटाना सिर्फ एक वर्ग का मुद्दा नहीं, बल्कि पूरे देश के विकास से जुड़ा हुआ सवाल है।

सामुदायिक एकता

सामाजिक भेदभाव को खत्म करने के लिए सामुदायिक एकता बहुत ज़रूरी है। गांव के सभी समुदायों को मिलकर काम करना होगा। जो लोग खुद को उच्च जाति का समझते हैं उन लोगों को यह समझना होगा कि भेदभाव न केवल दलितों को नुकसान पहुंचाता है, बल्कि यह पूरे गांव के विकास को रोकता है। अगर गांव में एक भी समुदाय पीछे रह जाता है, तो पूरा गांव पीछे रह जाता है।सामुदायिक आयोजनों, जैसे पंचायत की बैठकों, मेलों, और धार्मिक आयोजनों में सभी समुदायों को बराबर का मौका देना होगा। पंचायत को यह सुनिश्चित करना होगा कि गांव के सभी हिस्सों का बराबर विकास हो, चाहे वह उच्च जाति की बस्ती हो या दलित बस्ती।

चुनौतियां

- सामाजिक भेदभाव के खिलाफ लड़ाई आसान नहीं है। इस लड़ाई में कई चुनौतियां हैं:

सामाजिक दबाव: जो लोग भेदभाव के खिलाफ लड़ते हैं, उन्हें अपने ही समाज से विरोध झेलना पड़ता है। यह विरोध बहिष्कार, बायकॉट, या हिंसा के रूप में हो सकता है।

प्रशासनिक उदासीनता: पुलिस और स्थानीय प्रशासन अक्सर अमीर और उच्च जाति के लोगों के पक्ष में काम करते हैं। इस वजह से भेदभाव के शिकार लोग अपनी शिकायत दर्ज करने से डरते हैं।

आर्थिक निर्भरता: दलित अक्सर उच्च जाति के लोगों पर आर्थिक रूप से निर्भर होते हैं। इस वजह से वे उनके खिलाफ आवाज़ उठाने से डरते हैं।

मानसिकता में बदलाव की कमी: भेदभाव की मानसिकता इतनी गहरी है कि लोग इसे बदलना ही नहीं चाहते। वे इसे अपनी परंपरा और संस्कृति का हिस्सा मानते हैं।

समाधान

इन चुनौतियों का सामना करने के लिए निम्नलिखित समाधान अपनाए जा सकते हैं:

जागरूकता अभियान: गांवों में जागरूकता अभियान चलाने होंगे, जो लोगों को भेदभाव के नुकसान के बारे में बताएं। इन अभियानों में भाषण और कहानियों का इस्तेमाल किया जा सकता है।

कानूनी जागरूकता: लोगों को उनके कानूनी अधिकारों के बारे में जागरूक

करना होगा। उन्हें यह बताना होगा कि संविधान उन्हें समानता का अधिकार देता है और वे भेदभाव के खिलाफ शिकायत दर्ज कर सकते हैं।

प्रशासनिक सुधारः पुलिस और स्थानीय प्रशासन को भेदभाव के मामलों में सख्ती से कार्रवाई करनी होगी। इसके लिए प्रशासनिक अधिकारियों को संवेदनशील बनाना होगा।

आर्थिक सशक्तिकरण: दलितों को आर्थिक रूप से सशक्त करना होगा, ताकि वे उच्च जाति के लोगों पर निर्भर न रहें। इसके लिए सरकारी योजनाओं का सही इस्तेमाल करना होगा।

गांव बदलेगा, तो देश बदलेगा

सामाजिक भेदभाव की जड़ें अभी भी गहरी हैं। बदलाव की लहर चल पड़ी है, लेकिन उसे मजबूती देने की जिम्मेदारी उसी समाज की है जो आज भी खामोश है। हमें चुप्पी तोड़नी होगी, अन्याय के खिलाफ बोलना होगा, और अपने ही गांव में समानता की बुनियाद डालनी होगी। क्योंकि अगर गांव नहीं बदलेगा, तो देश कैसे बदलेगा?गांवों में सामाजिक भेदभाव को खत्म करने के लिए हमें न केवल कानूनी और प्रशासनिक सुधारों की ज़रूरत है, बल्कि सामाजिक और मानसिक बदलाव की भी ज़रूरत है। हमें यह समझना होगा कि भेदभाव न केवल एक समुदाय को नुकसान पहुंचाता है, बल्कि यह पूरे समाज को पीछे ले जाता है। अगर हम एक समतामूलक और न्यायपूर्ण समाज बनाना चाहते हैं, तो हमें गांवों से शुरुआत करनी होगी। हमें अपनी सोच को बदलना होगा, अपने बच्चों को समानता की शिक्षा देनी होगी, और अपने ही गांव में बदलाव की मिसाल बनानी होगी। यह एक लंबी और कठिन लड़ाई है, लेकिन अगर हम एकजुट होकर इस लड़ाई को लड़ें, तो हम

इसे ज़रूर जीत सकते हैं।

हमारी छाया में बुझते भविष्य

हमारे गांवों में बच्चों का भविष्य आज एक गहरी और चिंताजनक स्थिति में फंसा हुआ है, और यह कोई बाहरी षड्यंत्र नहीं, बल्कि हमारे अपने आचरण, सोच और लापरवाही का परिणाम है। एक समय था जब गांव सिर्फ मिट्टी की खुशबू या बैल और खेतों तक सीमित नहीं थे, बल्कि वे नैतिकता, संस्कृति, अनुशासन और सामूहिक जिम्मेदारी के केंद्र हुआ करते थे। वहां बच्चों को बिना किताबों के भी जीवन जीने की कला, बड़ों का सम्मान, मेहनत का मूल्य और सच्चाई की ताकत सिखाई जाती थी। लेकिन आज वही गांव आधुनिकता की झूठी चकाचौंध में अपने मूल्यों को खो चुके हैं। हम खुद को पढ़ा-लिखा और जागरूक कहते हैं, पर यह नहीं समझते कि बच्चों की पहली पाठशाला उनका घर और उनका समाज होता है। जब गांव की गलियों में नशेड़ी खुलेआम बीड़ी, शराब और गुटखा पीते नजर आते हैं, जब मंदिरों और स्कूलों के बाहर गालियों की बौछार होती है, जब मोबाइल पर बच्चे छोटी उम्र में ही अश्लील सामग्री देखने लगते हैं और घर में कोई उन्हें यह बताने वाला नहीं होता कि सही क्या है और गलत क्या, तब हम केवल सिर झुकाकर चुप बैठ जाते हैं, जैसे यह हमारी जिम्मेदारी ही नहीं है। लेकिन सच्चाई यह है कि यह हर उस व्यक्ति की जिम्मेदारी है जो गांव में रहता है, क्योंकि बच्चा सिर्फ अपने मां-बाप का नहीं होता—वह पूरे समाज की सोच, व्यवहार और संस्कृति का परिणाम होता है। आज हम बच्चों को कहते हैं कि

“पढ़ो-बढ़ो”, लेकिन क्या कभी हमने यह बताया कि पढ़ना क्यों जरूरी है? क्या हमने यह समझाया कि ज्ञान सिर्फ अंक लाने या नौकरी पाने के लिए नहीं, बल्कि इंसान बनने के लिए होता है? हमने बच्चों को परीक्षा और डिग्रियों की मशीन बना दिया है, रचनात्मकता, खेल, संवाद, नैतिकता—सब कुछ भुला दिया। नतीजा यह है कि बच्चा मानसिक दबाव में है, वह मोबाइल की लत में डूब गया है, और जब वह वहां से भी तृप्त नहीं होता तो नशे की ओर बढ़ जाता है। यह नशा सिर्फ एक आदत नहीं है, यह गांव की सामाजिक और मानसिक विफलता का प्रतीक है। गांवों में आज किशोरों के लिए कोई मार्गदर्शन नहीं, कोई प्लेटफॉर्म नहीं, कोई संरचना नहीं है जो उन्हें यह बता सके कि ज़िंदगी को सही दिशा में कैसे ले जाना है। हम समाज में बैठे बड़े लोग खुद संस्कारों से दूर हैं—हम शराब पीते हैं, अश्लील बातें करते हैं, दूसरों की निंदा करते हैं, गालियाँ देते हैं और फिर बच्चों से उम्मीद रखते हैं कि वे "आदर्श नागरिक" बनें। यह दोहरापन बच्चों की समझ को उलझा देता है। वह यह नहीं समझ पाता कि सही क्या है—क्योंकि जो बातें स्कूल में सिखाई जाती हैं, समाज उसके विपरीत आचरण करता है। बच्चों का व्यवहार हमारी ही छवि का प्रतिबिंब है। हम आज बच्चों को दोषी ठहराते हैं कि वे बिगड़ गए हैं, लेकिन हम खुद का आत्मनिरीक्षण नहीं करते कि हमने उन्हें कौन-सा रास्ता दिखाया। अगर गांव में कोई बच्चा क्रिकेट खेलता है तो हम ताना मारते हैं कि "बस खेलते रहो, कुछ नहीं बनोगे", लेकिन वही लोग तब खुशी से झूम उठते हैं जब कोई गांव का बेटा सेना में भर्ती होता है या कोई खिलाड़ी मेडल लाता है। यह दोगलापन बच्चों को भ्रम में डाल देता है—वे या तो विद्रोही बन जाते हैं या दबकर जीते हैं। अगर गांव में कोई बच्चा खुलेआम गाली देता है या तंबाकू चबाता है, तो हम या तो हँसते हैं या नजरअंदाज़ करते हैं, जैसे यह कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन यही छोटी-छोटी बातें धीरे-धीरे एक बड़े सामाजिक संकट में बदल जाती हैं। हम यह भूल गए हैं कि बच्चों की परवरिश सिर्फ पालन-पोषण नहीं, बल्कि समाज निर्माण की

प्रक्रिया है। जब गांव का हर कोना नशे से ग्रस्त हो, जब हर चौराहा गाली-गलौज का अड्डा हो, जब महिलाएं और लड़कियां सुरक्षित महसूस न करें, तब बच्चों के लिए आदर्श वातावरण की कल्पना करना ही बेमानी लगता है। हमने खेल के मैदानों को घर बना दिया, लाइब्रेरी का नाम तक नहीं लिया, और संवाद को मोबाइल की स्क्रीन पर सिमटा दिया। क्या हम समझते हैं कि जब एक बच्चा 13-14 साल की उम्र में व्हाट्सएप पर गालियाँ लिखता है, या रात-रात भर अश्लील वीडियो देखता है, तो वह सिर्फ अपना बचपन नहीं खोता, बल्कि गांव का भविष्य भी खो देता है? हम केवल यह कहते हैं कि "ये मेरा बच्चा थोड़ी है", लेकिन जब वह बच्चा किसी अपराध में पकड़ा जाता है या किसी लड़की के साथ बदसलूकी करता है, तब पूरा गांव शर्मसार होता है। इसलिए यह सोच गलत है कि "मुझे क्या", क्योंकि समाज सामूहिक उत्तरदायित्व का नाम है। आज अगर गांव में हर व्यक्ति तय कर ले कि वह बच्चों के सामने नशा नहीं करेगा, गाली नहीं देगा, और महिलाओं के प्रति सम्मानजनक भाषा का प्रयोग करेगा, तो यकीन मानिए गांव का वातावरण खुद-ब-खुद बदल जाएगा। लेकिन समस्या यह है कि हम दूसरों को बदलने की कोशिश करते हैं, खुद को नहीं। हम चाहते हैं कि बच्चे महान बनें, लेकिन खुद महान बनने की कोशिश नहीं करते। हमें यह समझना होगा कि बच्चों का निर्माण भाषणों से नहीं, आचरण से होता है। जब एक बच्चा देखता है कि उसके पिता खेतों में मेहनत करते हैं, शराब नहीं पीते, मां को सम्मान देते हैं, घर में संवाद करते हैं, तो वह स्वतः सीखता है कि जीवन क्या होता है। वहीं अगर वही बच्चा रोज देखता है कि पिता गाली देते हैं, मां को मारते हैं, मोबाइल में डूबे रहते हैं, तो वह भी वही सब दोहराता है। इसलिए परिवर्तन की शुरुआत घर से होनी चाहिए, समाज से होनी चाहिए, और सबसे पहले—खुद से होनी चाहिए। आज वक्त आ गया है जब गांव की अदालत में यह सवाल खड़ा होना चाहिए कि हम अपने बच्चों को कैसा समाज देना चाहते हैं? एक ऐसा समाज जहां वे भय और भ्रम में जिएं, या ऐसा जहां वे

खुलकर साँस लें, सवाल करें, खेलें, रचनात्मक बनें और अच्छे इंसान बनें। और यह सब तब ही संभव है जब हम यह मान लें कि बच्चे हमारी छाया हैं, और अगर छाया काली हो रही है, तो धूप को नहीं, खुद को सुधारने की जरूरत है। सरकारें सिर्फ योजना बना सकती हैं, स्कूल सिर्फ पढ़ा सकते हैं, लेकिन बच्चों की असली पाठशाला उनका घर और समाज है—और वहां हम सब शिक्षक हैं। अगर हम यह तय कर लें कि हर घर, हर गली, हर चौपाल बच्चों के लिए एक सुरक्षित, शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक जगह होगी, तो यकीन मानिए कि हमें किसी को सुधारने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी—बच्चे खुद आदर्श बन जाएंगे। गांव की इस अदालत में आज सबसे बड़ा सबूत सिर्फ एक है—हमारा आचरण। अगर वह सुधर गया, तो भविष्य भी सुधर जाएगा।

आज हमारे गांवों के बच्चों के सामने सबसे बड़ी विडंबना यह है कि उन्होंने बोलना बंद कर दिया है—वे चुप हैं, सहमे हुए हैं, लेकिन भीतर-ही-भीतर टूट रहे हैं, और यह चुप्पी किसी मौन शांति का नहीं बल्कि मानसिक विद्रोह का प्रतीक है। यह वह दौर है जहां बच्चा अपनी बात कहने से पहले सोचता है कि क्या कोई सुनेगा भी, या फिर सिर्फ डांट पड़ेगी, ताने मिलेंगे, या हिंसा झेलनी पड़ेगी। जब बच्चे अपने मन की बात को अपने ही घर में कहने से डरें, जब स्कूल में उनकी जिज्ञासा का मजाक उड़ाया जाए, और जब गांव की चौपालों पर उन्हें 'नासमझ', 'अज्ञानी' या 'बिगड़ा हुआ' कह कर चुप करा दिया जाए, तब वे बोलना बंद कर देते हैं, लेकिन उनका मन लगातार बातें करता रहता है—वह बातें जो समय के साथ विद्रोह, अपराध, अवसाद या आत्महत्या के रूप में सामने आती हैं। हमारे गांवों में यह दृश्य आम हो चला है कि बच्चे भीतर ही भीतर एक घुटन से गुजर रहे हैं, और इस घुटन की सबसे बड़ी वजह है—हम बड़ों की अनदेखी, अनुशासन के नाम पर हिंसा, संवाद की अनुपस्थिति और भावनात्मक शिक्षा की कमी। कोई बच्चा जब अपने

माता-पिता से अपने डर या सपनों की बात करता है और उसे जवाब में यह सुनने को मिलता है कि "ज्यादा बकवास मत कर, बस पढ़ाई कर", तो वह उस क्षण से खुद को एक मशीन समझने लगता है। हम बच्चों को इंसान नहीं, प्रोजेक्ट समझते हैं—जिन्हें बनाना है, गढ़ना है, ढालना है, लेकिन उनके अंदर क्या चल रहा है, उन्हें क्या चाहिए, उनकी संवेदनाएँ, डर, उत्साह—हम यह सब नहीं समझते। यह सोच कर देखिए कि जब एक 10 साल का बच्चा अपने मन की बात कहने के लिए किसी दोस्त के बजाय मोबाइल का रील चुनता है, जब वह अकेले में रोता है और कोई देखने वाला नहीं होता, तब उसकी भावनाएँ धीरे-धीरे कुंठा में बदल जाती हैं। गांवों में मानसिक स्वास्थ्य की बात करना तो दूर, उसे समझने वाला भी कोई नहीं होता—"क्या पगला गया है?", "ये सब शहर वालों की बीमारी है", या "मार लगाओ सब ठीक हो जाएगा"—ये वाक्य अब भी बच्चों के भावनात्मक दर्द का इलाज समझे जाते हैं। हमने कभी यह जानने की कोशिश नहीं की कि जब एक बच्चा गालियाँ देकर हँसता है, वह सच में खुश है या बस अपना दर्द छुपा रहा है? जब वह नशे में डूबता है, क्या वह 'बिगड़ा हुआ' है या 'छोड़ा हुआ'? जब वह घर से बाहर भागता है, क्या वह आवारा है या बस तंग आ चुका है? इन सभी सवालों के जवाब हमें अपने समाज के व्यवहार में, अपने आचरण में, अपने संवादहीन संबंधों में मिलेंगे। गांव के स्कूलों में अब शिक्षा सिर्फ किताबों तक सीमित रह गई है, शिक्षक तनाव में हैं, व्यवस्था जड़ है, और बच्चों के सवालों को अनसुना किया जाता है। एक शिक्षक अगर कक्षा में बच्चे के 'क्यों' का उत्तर देने में असमर्थ है या तैयार नहीं है, तो वह उस बच्चे के अंदर की जिज्ञासा को मार देता है, और यही मरी हुई जिज्ञासा आगे चलकर समाज के लिए एक निष्क्रिय, अनुत्तरदायी और दिशाहीन पीढ़ी का निर्माण करती है। सोचिए, जब गांव में हर बच्चा डरा हुआ हो, हर बच्चा असुरक्षित महसूस करता हो, और हर बच्चा अपने मन की बात मन में ही दबा रहा हो, तो क्या उस गांव का भविष्य रचनात्मक और जीवंत हो सकता है? नहीं। क्योंकि जहां संवाद

नहीं, वहां विकास नहीं। आज गांव में बच्चों को सिर्फ यह बताया जाता है कि उन्हें क्या नहीं करना चाहिए—"गाली मत दो", "नशा मत करो", "मोबाइल मत चलाओ"—लेकिन क्या कभी हमने यह बताया कि वे क्या कर सकते हैं? क्या हमने उन्हें यह मंच, वह आज़ादी, वह भरोसा दिया कि वे अपनी बात कह सकें, अपने हुनर दिखा सकें, अपने डर साझा कर सकें? नहीं। और यही सबसे बड़ा सामाजिक अपराध है—एक ऐसा अपराध जो हमारे समाज में बिना कानूनी धारा के लगातार घटित हो रहा है। बच्चों के लिए खेल अब शंका का विषय है, संवाद अब बद्तमीजी समझा जाता है, प्रश्न पूछना अब अनुशासनहीनता मान ली जाती है। ऐसे माहौल में बड़ा हुआ बच्चा भले ही परीक्षा में अच्छे अंक ले आए, लेकिन वह भीतर से खाली, डरा हुआ और अविश्वासी होगा। आज गांवों में जिस पीढ़ी का निर्माण हो रहा है, वह आत्मविश्वास से नहीं, डर से बड़ी हो रही है। और यह डर हर स्तर पर मौजूद है—घर में माता-पिता का डर, स्कूल में अध्यापकों का डर, गांव में समाज का डर। क्या हम इस डर से कोई उज्ज्वल भविष्य गढ़ सकते हैं? नहीं। हमें यह मानना होगा कि बच्चों को समझने, उनसे संवाद करने, उनके भीतर की पीड़ा को पहचानने और उन्हें अपनाने का समय अब आ गया है। वे न कोई खतरा हैं, न कोई जिम्मेदारी का बोझ, बल्कि वे संभावनाओं का वह बीज हैं जिसे अगर समय रहते सींचा न गया, तो वह या तो सूख जाएगा या कांटा बन जाएगा। हमें यह देखना होगा कि बच्चा क्यों चुप है? वह क्यों किताबें देखकर ऊबता है? क्यों वह अकेले रहना चाहता है? क्यों वह बार-बार मोबाइल में डूब जाता है? क्यों वह किसी बात पर फूट-फूट कर रो पड़ता है या छोटी सी बात पर हिंसक हो जाता है? ये सब संकेत हैं—मदद मांगने के, संवाद की ज़रूरत के। हमें ऐसे बच्चों को 'समस्या' नहीं, 'संकट में फंसे भविष्य' के रूप में देखना होगा। और यह तभी संभव है जब गांव के हर घर में, हर स्कूल में, हर गली में बच्चों के साथ ऐसा संबंध बनाया जाए जिसमें वे खुलकर साँस ले सकें, बोल सकें, हँस सकें और रो भी सकें। बच्चों को

समझने के लिए बड़े होना पड़ता है, उम्र से नहीं, सोच से—और यह सोच अब बदलनी चाहिए। वरना वे बच्चे जो आज चुप हैं, कल या तो हमारे खिलाफ विद्रोह करेंगे या खुद से ही युद्ध कर हार जाएंगे। एक समाज का सबसे बड़ा पराजय तब होती है जब उसके बच्चे चुपचाप बर्बाद हो रहे हों और वह समाज उन्हें 'बिगड़ा हुआ' कहकर अपने कर्तव्यों से मुक्ति पा ले। इसलिए अब वक्त है, बच्चों को 'सुनने' का, 'समझने' का और सबसे ज़रूरी—'साथ देने' का। बच्चों के मन की अदालत आज हमें बुला रही है, और वहाँ सबसे बड़ा गवाह कोई और नहीं, हम खुद हैं—अपने व्यवहार, अपने आचरण और अपनी चुप्पी के साथ।

अब जबकि यह स्पष्ट हो चुका है कि गांवों में बच्चों का भविष्य अंधकार की ओर बढ़ रहा है, और यह संकट सिर्फ व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामाजिक, मानसिक और नैतिक है, तो इसका समाधान भी हमें उसी गहराई और ईमानदारी से खोजना होगा। समाधान सिर्फ सरकारी योजनाओं, स्कूलों की व्यवस्थाओं या किसी सामाजिक संस्थान से नहीं आएगा, बल्कि वह गांव की आत्मा से निकलेगा—उस आत्मा से जिसे हमने धीरे-धीरे खो दिया है। गांव की असली शक्ति वहां के लोग हैं, उनका सामूहिक विवेक, उनका साझा अनुभव, उनकी आपसी समझ और संवेदना, और अगर हम सच में गांव के बच्चों के भविष्य को संवारना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें गांव को फिर से एक जीवंत और जागरूक समाज में बदलना होगा। इसका पहला कदम है स्वीकृति—हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमसे गलतियाँ हुई हैं, हमने बच्चों की उपेक्षा की है, उन्हें केवल अंक, अंकों और आदेशों के बीच सड़ा दिया है; हमने उनके मन की बात नहीं सुनी, उनकी कल्पनाओं को पंख नहीं दिए, बल्कि उन्हें सिर्फ 'आज्ञाकारी' बनाने में लगे रहे। अब वक्त है कि हम उन्हें 'आज्ञाकारी' नहीं, सजग, संवेदनशील और साहसी नागरिक बनाएं। इसके लिए सबसे पहले गांव में संवाद की संस्कृति लौटानी होगी—जहां बड़े-बुजुर्ग

बच्चों से बात करें, उन्हें सुने, उनके डर और सपनों को साझा करें; गांव की चौपालें, जहां कभी किसानों और पंचायत की चर्चा होती थी, अब बच्चों के संवाद की चौपाल बनें—जहां वे अपने अनुभव, सपने, सवाल और राय रख सकें। अगर हम चाहते हैं कि बच्चा नशे से बचे, तो उसे विकल्प देना होगा—खेल, संगीत, कला, विज्ञान, बागवानी, काव्य, नाटक, सार्वजनिक सेवा जैसी गतिविधियों से जोड़ना होगा। गांव में हर मोहल्ला, हर मंदिर, हर स्कूल, हर सामुदायिक भवन एक सीखने, गढ़ने और बढ़ने का केंद्र बन सकता है, बशर्ते हम उसे सिर्फ इमारत न मानें, बल्कि एक सामाजिक जिम्मेदारी समझें। गांव में बच्चों के लिए "साप्ताहिक बाल चौपाल" शुरु की जानी चाहिए, जहां वे खुलकर अपनी समस्याएं और विचार रखें, और समाज के समझदार लोग न केवल उन्हें सुनें, बल्कि उन्हें दिशा भी दें। शिक्षक केवल पाठ्यपुस्तक के व्याख्याता न बनें, बल्कि मार्गदर्शक, मित्र और प्रेरणा स्रोत बनें। गांव के स्कूलों में रचनात्मक लेखन, कहानी सुनाने, बहस, सामाजिक कार्य, खेती, पशुपालन, स्वास्थ्य और जीवन कौशल जैसे विषयों को शामिल किया जाए ताकि बच्चों को जीवन की सच्ची समझ मिल सके। गांवों में खेलों का पुनर्जन्म किया जाना चाहिए—हर खाली ज़मीन को बच्चों के खेलने का अधिकार मिलना चाहिए। पंचायत को खेल मैदानों की रक्षा करनी चाहिए और उनके लिए संसाधन जुटाने चाहिए। यह सोचना बंद करना होगा कि 'खेल से कुछ नहीं होता'—बल्कि यह समझना होगा कि खेल ही है जो बच्चों को टीमवर्क, नेतृत्व, अनुशासन और आत्मविश्वास सिखाता है। अगर किसी बच्चे में प्रतिभा है—वह चित्रकार बनना चाहता है, कवि या क्रिकेटर बनना चाहता है—तो उसका मज़ाक उड़ाने की बजाय पूरे गांव को उसका हौसला बनना चाहिए। बच्चों को सिखाने के लिए गांव में 'जीवंत पुस्तकालय' बनाए जाएं—जहां सिर्फ किताबें न हों, बल्कि लोग भी हों—किसान, बढ़ई, दर्जी, शिक्षक, दादी-नानी की कहानियों वाले लोग—जिनके अनुभव खुद बच्चों के लिए पाठ्यपुस्तक बनें। बच्चों को

सिखाना है कि जीवन सिर्फ नौकरी नहीं होती—वह सेवा है, संघर्ष है, सह-अस्तित्व है। हमें अपने गांवों में एक नशा-मुक्त आंदोलन चलाना चाहिए, जिसमें बच्चे स्वयं भाग लें, पोस्टर बनाएं, रैली करें, नुक्कड़ नाटक करें—यह सिर्फ बड़ों का काम नहीं, यह बच्चों की भागीदारी से ही प्रभावी होगा। जो समाज अपने बच्चों को उनके अधिकार और ज़िम्मेदारी नहीं देता, वह समाज कभी प्रगति नहीं कर सकता। हर गांव के स्कूल में बच्चों की बाल संसद या बाल न्यायलय होनी चाहिए, जहां बच्चे अनुशासन, ईमानदारी, नेतृत्व और न्याय की अवधारणाएं व्यवहार में सीखें। हमें बच्चों को सिर्फ 'भविष्य का नागरिक' नहीं, वर्तमान का भागीदार बनाना होगा। गांव की महिलाएं, बुजुर्ग, युवा—सभी को मिलकर एक ऐसा सामुदायिक पारिवारिक तंत्र खड़ा करना होगा जिसमें हर बच्चा 'अपनेपन' का अनुभव करे। जब कोई बच्चा स्कूल न आए, तो शिक्षक नहीं—पूरा गांव पूछे कि वह क्यों नहीं आया? जब कोई बच्चा उदास दिखे, तो मां नहीं—पूरा गांव उसका कंधा बने। यह वही गांव हैं जिसने आज़ादी की लड़ाई में नेताओं को गढ़ा, यह वही गांव हैं जहां प्रेमचंद की कहानियाँ जन्मी, यह वही गांव हैं जहां चरखा, मिट्टी और आत्मा एक साथ चलते थे—फिर आज का गांव इतना बेबस, असहाय और निष्क्रिय क्यों हो गया है? क्या हम इस गांव को फिर से जागृत नहीं कर सकते? बिल्कुल कर सकते हैं—बशर्ते हम यह मान लें कि यह सिर्फ नीतियों की नहीं, नीयत की लड़ाई है। अगर हम चाहते हैं कि आने वाली पीढ़ी हमें सम्मान से देखे, तो आज हमें उनके लिए वह समाज देना होगा, जिसमें वे न सिर्फ सफल, बल्कि संवेदनशील और संपूर्ण मनुष्य बन सकें। बदलाव का बीज बहुत छोटा होता है, लेकिन उसकी जड़ें बहुत गहरी होती हैं—अगर आज गांव का कोई एक व्यक्ति तय कर ले कि वह बच्चों को सुनना शुरू करेगा, उन्हें गालियाँ नहीं प्रेरणा देगा, उनके खेलने के मैदान बचाएगा, नशे से लड़ेगा, और संस्कारों को जीएगा—तो गांव की आत्मा फिर से जाग सकती है। और अगर यह प्रयास सामूहिक हो जाए, तो यह गांव सिर्फ एक भौगोलिक ईकाई नहीं, बल्कि एक

जीवित आशा बन जाएगा—जहां हर बच्चा अपने सपनों के साथ जी सकेगा, और एक दिन कह सकेगा—"हां, मैं इस गांव का हूं, और मेरा गांव ही मेरा पहला स्कूल, मेरा पहला मंदिर, और मेरा पहला प्रेरणास्थल है।" क्योंकि गांव की अदालत में सबसे मजबूत गवाही किसी किताब या कानून की नहीं, बल्कि बच्चों की मुस्कुराहट और आत्मबल की होती है—और वह मुस्कुराहट तभी लौटेगी, जब हम सब मिलकर बच्चों के लिए एक आदर्श, सजीव और सच्चा समाज गढ़ेंगे—जहां डर नहीं, संवाद होगा; नशा नहीं, खेल होगा; गालियाँ नहीं, संस्कार होंगे; दबाव नहीं, प्यार होगा। यही गांव का नवजागरण होगा—बच्चों से शुरु होकर, पूरे समाज तक पहुँचेगा।

गांवों में भ्रष्टाचार और चुप्पी की विडंबना का तीसरा और सबसे मार्मिक पहलू तब उभर कर सामने आता है जब हम उन सैकड़ों-हजारों आम नागरिकों के मानसिक, सामाजिक और भावनात्मक संघर्ष को समझने का प्रयास करते हैं, जो इस तंत्र के भीतर जीने को मजबूर हैं लेकिन जिनके पास बोलने, विरोध करने या बदलाव की कोई ठोस शक्ति नहीं है। यह भाग उस अदृश्य दीवार पर रोशनी डालता है जो भ्रष्टाचार से कहीं अधिक ख़तरनाक है—और वह है सामाजिक चुप्पी, डर, परंपरा, और आत्मसमर्पण का मिला-जुला जाल। एक आम ग्रामीण नागरिक के लिए लोकतंत्र का वास्तविक अनुभव उस दिन मर जाता है जब वह जानता है कि उसके हक की जमीन पर कोई और कब्जा कर रहा है, शौचालय योजना का पैसा सरपंच की जेब में गया है, राशन कार्ड सूची में उसका नाम है लेकिन अनाज नहीं मिला, फिर भी वह यह सब देखकर चुप रह जाता है—क्योंकि उसे बचपन से यही सिखाया गया है कि व्यवस्था से पंगा नहीं लेना चाहिए। वह जानता है कि पंचायत की बैठक में अगर वह सवाल पूछेगा तो उसे "नेता बनने का शौकीन" कहकर बदनाम कर दिया जाएगा, अगर वह RTI लगाएगा तो थाने में उसका पुराना कोई मामला उखाड़कर उसकी इज्ज़त

मिट्टी में मिला दी जाएगी, अगर वह आवाज़ उठाएगा तो अगली बार उसको किसी सरकारी योजना का लाभ नहीं मिलेगा , और यह सब इतनी चुपचाप और व्यवस्थित ढंग से होगा कि वह यह साबित भी नहीं कर पाएगा कि यह सजा उसे व्यवस्था के खिलाफ बोलने की मिली है। गांवों में अब यह सामान्य हो गया है कि "अच्छे लोग चुप रहते हैं", "समझदार लोग टकराते नहीं हैं", और "जो ज़्यादा बोले, वही मुसीबत में फंसे"। यह सोच एक ऐसी सामूहिक मानसिकता को जन्म दे चुकी है जिसमें अन्याय, शोषण और लूट को जीवन का हिस्सा मान लिया गया है। हम भूल चुके हैं कि लोकतंत्र का अर्थ केवल वोट देना नहीं, बल्कि शासन की प्रक्रिया में बराबरी से भाग लेना होता है। लेकिन जब ग्राम पंचायत का पूरा तंत्र सरपंच, सचिव, पटवारी और अन्य अधिकारियों की आपसी सांठगांठ से चल रहा हो, जब हर सरकारी योजना एक दलाल के हाथों में गिरवी रखी हो, जब हर निर्णय पहले से तय हो और गांव का आम आदमी सिर्फ दर्शक बन कर रह जाए—तो यह लोकतंत्र नहीं बल्कि नियंत्रित गुलामी है। उदाहरण के लिए, जब पंचायत भवन में सिर्फ 'नजदीकी लोगों' को आमंत्रित किया जाता है और जनता की खुली बैठक का कोई आयोजन नहीं होता, तो पारदर्शिता का झूठा तमाशा खड़ा कर दिया जाता है। गांव के युवा, जो परिवर्तन की सबसे बड़ी उम्मीद हो सकते थे, वे या तो बेरोजगारी और हताशा में शराब, गांजा और मोबाइल की लत में फंसे हैं, या फिर उन्हें भी सिखा दिया गया है कि अगर व्यवस्था से कुछ पाना है, तो उसी का हिस्सा बन जाओ, उसके खिलाफ नहीं। यहां तक कि स्कूलों और आंगनबाड़ियों में काम करने वाले शिक्षक और कार्यकर्ता भी इस चुप्पी का हिस्सा बन चुके हैं—वे जानते हैं कि बच्चों को जो पोषण मिलना चाहिए, वह बाजार में बिक रहा है; वे जानते हैं कि स्कूल की बिल्डिंग मरम्मत की राशि आ चुकी है, लेकिन कोई काम नहीं हुआ, फिर भी वे बोलते नहीं। क्यों? क्योंकि उन्हें भी पता है कि बोलने की कीमत चुकानी पड़ती है, और इस चुप व्यवस्था में सबसे सुरक्षित वही है जो चुपचाप आदेशों का

पालन करे। इसी चुप्पी का परिणाम है कि गांवों में जो लोग ईमानदारी से काम करना चाहते हैं, वे या तो हाशिए पर डाल दिए जाते हैं या कुंठा में आत्महत्या तक की ओर धकेल दिए जाते हैं। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है, बल्कि एक सच्चाई है कि गांवों में ईमानदार व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है और जो हैं, वे या तो अकेले हैं या निराश हैं। जब व्यवस्था किसी को ग़लत कहने पर प्रताड़ित करने लगे, तब वह व्यवस्था लोकतांत्रिक नहीं रह जाती, वह एक भयप्रद संरचना बन जाती है जो केवल अपने 'वफादारों' को स्थान देती है। यह स्थिति न केवल नैतिक पतन की ओर संकेत करती है, बल्कि एक गहरी मानसिक दासता की ओर भी जिसमें लोगों को यह विश्वास दिला दिया गया है कि बदलाव संभव नहीं है, और अगर है भी तो उसकी कीमत बहुत भारी है। गांवों में जब कोई युवा सच बोलता है, तो उसे पहले घर के बड़े चुप कराते हैं, फिर समाज ताने मारता है, और फिर व्यवस्था उसे सबक सिखाती है। इस पूरे चक्र में एक नई पीढ़ी जो देश को बदल सकती थी, वह या तो चुप हो जाती है या भ्रष्टाचार में शामिल हो जाती है। और यह चुप्पी केवल आज की नहीं है, यह पीढ़ियों से चली आ रही है, जिसने अब एक सांस्कृतिक रुप ले लिया है। यही कारण है कि कई बार हम यह सोचते हैं कि गांव गरीब हैं क्योंकि संसाधन नहीं हैं, जबकि सच्चाई यह है कि गांव गरीब हैं क्योंकि वहाँ चेतना, संवाद और प्रतिरोध नहीं हैं। अगर गांव में हर व्यक्ति यह तय कर ले कि वह न किसी से डरेगा, न किसी की चापलूसी करेगा, और न ही अन्याय को चुपचाप स्वीकार करेगा—तो गांवों की तस्वीर बदल सकती है। लेकिन उसके लिए सबसे पहले इस 'सामूहिक चुप्पी' को तोड़ना होगा जो भ्रष्टाचार की सबसे बड़ी ढाल बन चुकी है। यह चुप्पी सत्ता को ताकत देती है, गलत को सही साबित करती है, और ईमानदारी को हारा हुआ बताती है। जब तक गांव का हर नागरिक यह नहीं मानेगा कि वह भी इस व्यवस्था का जिम्मेदार हिस्सा है—भले वह भ्रष्टाचार में शामिल न हो, लेकिन अगर वह चुप है तो वह अप्रत्यक्ष रुप से दोषी है—तब तक गांव का पतन रुक नहीं सकता।

इसलिए इस भाग का अंतिम और सबसे ज़रूरी संदेश यही है: चुप रहना अब कोई विकल्प नहीं है। अगर गांव को बचाना है, अगर बच्चों का भविष्य उज्ज्वल करना है, अगर लोकतंत्र को जिंदा रखना है—तो हमें इस भय और चुप्पी की दीवार को तोड़ना होगा। हमें अपने भीतर के डर को हराना होगा, अपने अधिकारों को जानना होगा, और एक संगठित नागरिक के रूप में खड़ा होना होगा। यही नहीं, हमें यह भी तय करना होगा कि अगली पीढ़ी को हम क्या सिखा रहे हैं—चुप रहना या सच बोलना, डरना या लड़ना, झुकना या खड़ा होना? गांव की असली ताकत उसकी एकता, उसका संवाद और उसका साहस है—अगर ये तीनों वापस आ गए, तो कोई सरपंच, सचिव, या सत्ता गांव को गुलाम नहीं बना पाएगी। अब समय आ गया है कि गांव का हर व्यक्ति अपने आत्मसम्मान के लिए खड़ा हो, अपनी पंचायत की पारदर्शिता की मांग करे, और यह साबित कर दे कि लोकतंत्र की असली शक्ति अब भी गांवों में ज़िंदा है—बस उसे जगाने की ज़रूरत है।

गांवों में भ्रष्टाचार और चुप्पी की विडंबना का चौथा और सबसे दर्दनाक पहलू तब सामने आता है जब हम यह समझने की कोशिश करते हैं कि किस तरह यह सड़ा हुआ तंत्र धीरे-धीरे गांवों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक ताने-बाने को निगल रहा है और इस विनाश में शामिल हर वर्ग, हर भूमिका और हर व्यक्ति अनजाने या जानबूझकर सहयोगी बन गया है। यदि हम यह मान लें कि भ्रष्टाचार केवल पैसे की चोरी तक सीमित है तो हम बहुत सतही समझ रखते हैं; वास्तव में भ्रष्टाचार एक मानसिकता है, एक संस्कार बन चुका है जिसमें ईमानदारी को मूर्खता और सच को पागलपन समझा जाता है। गांवों में यह मानसिकता इस कदर गहरी हो चुकी है कि लोग अब यह मानने लगे हैं कि बिना रिश्वत, बिना जान-पहचान या बिना सत्ता के डर के कोई काम हो ही नहीं सकता। यहां तक कि सरकारी योजनाओं के लाभार्थियों को भी पहले से यह बताया जाता है कि “कुछ चढ़ावा लगेगा तभी फाइल आगे

बढ़ेगी", और चौंकाने वाली बात यह है कि लोग इस शर्त को सामान्य मानकर स्वीकार भी कर लेते हैं। जब हर घर में किसी न किसी स्तर पर भ्रष्टाचार की चपेट में आने की कहानी होती है, जब हर माता-पिता को अपने बच्चे का जन्म प्रमाण पत्र बनवाने के लिए पटवारी या पंचायत सचिव को चाय-पानी देना पड़ता है, जब कोई गरीब विधवा महिला अपने पेंशन के लिए महीनों पंचायत के चक्कर काटती है और अंत में उसे यह कहा जाता है कि "नाम चला गया, अब कुछ नहीं हो सकता", तब ये घटनाएं एक व्यक्ति की समस्या नहीं, पूरे लोकतंत्र की बीमारी बन जाती हैं। और इस बीमारी का इलाज तब और कठिन हो जाता है जब गांव का हर व्यक्ति इसे एक 'नव-स्वीकार्य सत्य' मानकर जीने लगता है, जब उसे यह लगता है कि अब कुछ नहीं बदल सकता, जब "चलता है" वाली मानसिकता हर गली, हर बैठक और हर संबंध में घुस जाती है। ऐसे में गांवों में संवाद समाप्त हो जाता है, युवा मौन हो जाते हैं, बुजुर्ग हताश और महिलाएं निराश हो जाती हैं। महिलाएं जो पहले सामाजिक न्याय और संघर्ष की प्रतीक थीं, अब योजनाओं के नाम पर सिर्फ वोट बैंक और आँकड़ों का हिस्सा बन चुकी हैं। महिला स्व-सहायता समूहों के नाम पर चल रही स्कीमें भ्रष्टाचार की नई प्रयोगशाला बन चुकी हैं जहां सिर्फ कागजों में पैसे चलते हैं और जमीनी स्तर पर लाभ सिफर होता है। गांव की शिक्षा व्यवस्था की हालत इससे भी बुरी है—अध्यापक महीने में एक-दो बार स्कूल आते हैं, मिड डे मील के नाम पर घटिया खाना परोसा जाता है और बच्चे सिर्फ उपस्थिति के लिए स्कूल आते हैं, लेकिन फिर भी विद्यालयों की प्रगति रिपोर्टें उत्कृष्ट बनी रहती हैं। अगर कोई जागरूक नागरिक इन मुद्दों को उठाने का प्रयास करता है, तो पंचायत की पूरी मशीनरी उस पर टूट पड़ती है—कभी उसके विरुद्ध सामाजिक बहिष्कार होता है, कभी उस पर 'नेता बनने का शौक' का आरोप लगाया जाता है, और कभी उसे पुलिस व कोर्ट में घसीटने की धमकी दी जाती है। यह व्यवस्था इस कदर अन्यायपूर्ण हो चुकी है कि अब सत्य

बोलना, अन्याय का विरोध करना और पारदर्शिता की मांग करना ही एक 'अपराध' बन चुका है। और जब भ्रष्टाचार को चुनौती देना अपराध और चुप रहना पुरस्कार बन जाए, तो यह समझ लेना चाहिए कि लोकतंत्र अपने सबसे निचले स्तर पर दम तोड़ रहा है। पंचायतों की बैठकें अब केवल औपचारिकता बन चुकी हैं, जहां कुछ चुने हुए लोग ही बैठते हैं, मिनट्स पहले से तैयार होते हैं और कोई सवाल उठाने की अनुमति नहीं होती। लोग यह भी नहीं जानते कि उनके गांव को किस योजना के तहत कितना बजट मिला, कहां-कहां कितना खर्च हुआ, किसे लाभ मिला और किसे वंचित किया गया—क्योंकि यह जानकारी देने के लिए कोई भी जिम्मेदार अधिकारी या प्रतिनिधि इच्छुक नहीं होता। सूचना का अधिकार (RTI) एकमात्र ऐसा औजार है जिससे इस व्यवस्था की परतें खोली जा सकती हैं, लेकिन इस औजार के उपयोग करने वालों को गांव में 'विद्रोही' घोषित कर दिया जाता है और उन्हें हर संभव सामाजिक, मानसिक और प्रशासनिक दबाव दिया जाता है। कोई RTI लगाता है तो पटवारी या सचिव उससे सीधे कह देता है, "तू बहुत चालाक हो गया है, अब देख तेरे साथ क्या होता है।" ऐसी धमकियाँ, सामाजिक बहिष्कार, गालियाँ और झूठे केस RTI एक्टिविस्ट्स के लिए अब आम बात हो चुकी है। गांवों में भ्रष्टाचार अब केवल एक आर्थिक अपराध नहीं, बल्कि एक सामूहिक सामाजिक अन्याय है जिसे रोकने के लिए केवल कानून नहीं, बल्कि चेतना की आवश्यकता है, और यह चेतना तब आएगी जब हर गांववासी खुद को व्यवस्था का भागीदार मानेगा, जब वह यह समझेगा कि पंचायत की जिम्मेदारी केवल सरपंच या सचिव की नहीं, उसकी भी है, जब वह यह समझेगा कि अगर वह चुप है तो वह भी उतना ही दोषी है जितना वह जो चोरी कर रहा है। यही कारण है कि हमें अब गांवों में भ्रष्टाचार के विरुद्ध केवल शिकायत नहीं, बल्कि शिकायत कार्यवाही ओर शांतिपूर्ण आंदोलन की आवश्यकता है—ऐसा आंदोलन जो किसी एक व्यक्ति या संगठन तक सीमित न हो, बल्कि हर गांववासी के हृदय से निकले,

जो व्यवस्था से नहीं, सोच से लड़ाई करे; जो भय से नहीं, विश्वास से पैदा हो। अगर हमें गांवों को बचाना है, तो सबसे पहले वहां व्याप्त इस चुप्पी की दीवार को तोड़ना होगा—और यह काम किसी बड़े नेता या अधिकारी का नहीं, हमारे जैसे आम नागरिकों का है।

अब जब हम गांवों में फैले भ्रष्टाचार और चुप्पी की इस जटिल और गहरी समस्या के अंतिम भाग की ओर बढ़ते हैं, तो सबसे जरूरी सवाल यही है कि आखिर इससे निपटने का रास्ता क्या है? क्या यह संभव है कि एक आम ग्रामीण, जो वर्षों से व्यवस्था का शोषण झेलता आया है, वह फिर से सिर उठाकर, बिना डरे, सवाल कर सके? क्या यह संभव है कि जिस पंचायत को आज लूट का अड्डा कहा जाता है, वही भविष्य में पारदर्शिता और जनसहभागिता का उदाहरण बन सके? इन सवालों के जवाब आसान नहीं हैं, लेकिन असंभव भी नहीं हैं। सबसे पहले, गांवों में एक जन-जागरूकता आंदोलन खड़ा करना होगा, जो यह स्पष्ट करे कि पंचायत, योजनाएं, और बजट जनता के लिए हैं—ना कि किसी सचिव, सरपंच या नेता के निजी संपत्ति के रूप में। यह आंदोलन किसी राजनीतिक पार्टी से प्रेरित नहीं, बल्कि लोगों के बीच से निकलने वाली सामूहिक चेतना का परिणाम होना चाहिए। गांव के युवाओं को संगठित होकर जन-जवाबदेही समितियां बनानी होंगी, जो हर योजना, हर काम, हर खर्च का हिसाब मांगें, चाहे वह प्रधानमंत्री आवास योजना हो, या ग्राम सड़क योजना, चाहे वह आंगनबाड़ी पोषण हो या स्कूल मिड डे मील—हर चीज़ की निगरानी जरूरी है। इन समितियों को न तो किसी राजनीतिक प्रभाव में आना चाहिए, और न ही किसी सामाजिक दबाव में झुकना चाहिए, बल्कि ईमानदारी, संवेदनशीलता और न्याय की भावना से काम करना चाहिए। गांवों में महीने में एक बार जन पंचायत या लोक सुनवाई आयोजित हो, जिसमें हर वर्ग के लोग—महिलाएं, बुजुर्ग, युवा, गरीब, किसान, मजदूर—खुलेआम अपनी बातें रख सकें और सरपंच-सचिव

को सार्वजनिक रूप से जवाबदेह बनाया जाए। इसी के साथ स्कूलों, पंचायत भवनों और सार्वजनिक स्थलों पर सूचना पट्ट लगाए जाएं, जिनमें यह लिखा हो कि गांव को किस योजना के तहत कितना पैसा मिला, कब मिला, किस कार्य में खर्च हुआ, और उस कार्य की स्थिति क्या है। आज डिजिटल युग में यह भी आवश्यक है कि हर पंचायत की एक ऑनलाइन वेबसाइट या मोबाइल ऐप हो, जिस पर हर वित्तीय लेन-देन, हर निर्माण कार्य और हर सरकारी लाभार्थी की सूची प्रकाशित की जाए। इससे पारदर्शिता बढ़ेगी और भ्रष्टाचार के अवसर घटेंगे। इसके अतिरिक्त, गांवों के बच्चों और किशोरों में नैतिक शिक्षा, संविधान की समझ, और नागरिक अधिकारों की जानकारी देना अनिवार्य होना चाहिए, क्योंकि यह पीढ़ी ही भविष्य में गांव की दिशा तय करेगी। जब एक बच्चा यह समझेगा कि उसका परिवार जिस सड़क से चलता है वह उसके टैक्स से बनी है, तो वह उस सड़क में गड्ढा देखकर चुप नहीं बैठेगा; जब वह जान जाएगा कि विद्यालय में पढ़ाई केवल परीक्षा पास करने के लिए नहीं, बल्कि समाज में न्याय स्थापित करने के लिए होती है, तो वह शिक्षकों की अनुपस्थिति पर आवाज उठाएगा; और जब वह यह जानेगा कि RTI एक क्रांति का हथियार है, तो वह उसे डर नहीं, अधिकार की तरह इस्तेमाल करेगा। इसी तरह महिलाओं को केवल लाभार्थी नहीं, बल्कि नेतृत्वकर्ता बनाना होगा। महिला स्व-सहायता समूहों को अब केवल कागजी गतिविधियों से बाहर निकालकर ग्राम निगरानी की शक्तिशाली इकाई बनाया जाए, ताकि गांव की महिलाएं भी यह तय कर सकें कि कौनसी योजना उनके हित में है, और कौनसा निर्णय केवल सत्ता के फायदे के लिए। इसके लिए पंचायत स्तर पर जन-शिक्षा शिविर चलाए जाएं, जिनमें लोगों को RTI, पंचायत अधिनियम, ग्राम सभा की शक्तियाँ, और विकास योजनाओं की मूल बातें सिखाई जाएं। इसके साथ ही गांवों में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की जरूरत है—गांव का मंच अब शादी, नाच-गाने या राजनीतिक भाषणों तक सीमित नहीं होना चाहिए,

बल्कि वहां नाटक, कविता पाठ, बहस, वाद-विवाद, संविधान पाठ जैसी गतिविधियाँ हों, जो समाज को सोचने और सवाल करने की आदत डालें। ग्राम पुस्तकालयों और पाठशालाओं को पुनर्जीवित किया जाए, जहां बच्चे गांधी, अंबेडकर, भगत सिंह और विवेकानंद जैसे लोगों के विचार पढ़ सकें, ताकि उनमें आत्मबल, न्यायबोध और नेतृत्व की भावना पैदा हो। यह भी अत्यंत आवश्यक है कि सरकारें अपने प्रतिनिधियों और अधिकारियों को जवाबदेह बनाएं—हर ग्राम पंचायत के कार्यों का त्रैमासिक स्वतंत्र ऑडिट कराया जाए और उस रिपोर्ट को सार्वजनिक किया जाए। अधिकारियों की नियुक्ति और स्थानांतरण में स्थानीय जनता की सहमति एक बाध्यकारी शर्त होनी चाहिए ताकि भ्रष्ट और पक्षपाती अधिकारी गांवों में टिक न सकें। लेकिन इन सब प्रयासों के बावजूद यदि जनता चुप है, निष्क्रिय है और डर में जी रही है, तो कोई व्यवस्था कारगर नहीं हो सकती। इसलिए, परिवर्तन का पहला कदम हमें खुद उठाना होगा—अपने अंदर के डर को खत्म करना होगा, अपने परिवार और गांव में संवाद शुरू करना होगा, और यह स्वीकार करना होगा कि यदि हम चुप हैं तो हम भी उतने ही दोषी हैं जितने लूट करने वाले। यदि कोई सरपंच, सचिव या अफसर गलत कर रहा है तो यह कहना हमारा अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी है। यह लड़ाई सिर्फ भ्रष्टाचार के खिलाफ नहीं, एक बेहतर गांव, बेहतर समाज और बेहतर भारत की कल्पना के लिए है। जब गांव का हर व्यक्ति यह सोचने लगे कि वह सिर्फ एक नागरिक नहीं, बल्कि इस लोकतंत्र का एक प्रहरी है, तब भ्रष्टाचार खुद ब खुद डरने लगेगा। और जब चुप्पी की दीवारें टूटेंगी, तब न्याय, ईमानदारी और पारदर्शिता की नयी सुबह गांव की मिट्टी से फूटेगी—जिसका सूरज न सिर्फ गांव को, बल्कि पूरे देश को रोशन करेगा।

युवाओं का संघर्ष: एक सामाजिक, पारिवारिक और मानसिक लड़ाई

भारत के गांवों में जाति-आधारित सामाजिक संरचना सदियों से लोगों के जीवन को प्रभावित करती रही है। यह संरचना केवल सामाजिक व्यवस्था तक सीमित नहीं है, बल्कि यह लोगों की सोच, व्यवहार और जीवनशैली का आधार बन चुकी है। हालांकि स्वतंत्रता के बाद से संवैधानिक और सामाजिक स्तर पर कई बदलाव आए हैं, फिर भी गांवों में जातीय भेदभाव की जड़ें इतनी गहरी हैं कि वे आज भी कई रूपों में मौजूद हैं। इस भेदभाव के खिलाफ जब कोई युवा खड़ा होता है, तो उसका संघर्ष केवल सामाजिक नहीं, बल्कि पारिवारिक और मानसिक भी बन जाता है। वह न केवल समाज के रुढ़िवादी तंत्र से लड़ता है, बल्कि अपने ही परिवार और अपने भीतर की आशंकाओं से भी जूझता है। यह लेख गांव के युवाओं के इस संघर्ष को गहराई से विश्लेषित करता है, उनके सामने आने वाली चुनौतियों को उजागर करता है, और बदलाव की राह सुझाता है।

गांव का एक युवा जब सामाजिक भेदभाव को चुनौती देता है, तो वह न केवल एक व्यक्ति के रूप में, बल्कि एक विचार के रूप में समाज के सामने खड़ा होता है। वह सवाल उठाता है—क्यों गांव के सभी लोग एक साथ भोज

नहीं कर सकते? क्यों मंदिर में दलितों के प्रवेश पर आपत्ति है? क्यों स्कूल में बच्चों के बीच भेदभाव होता है? ये सवाल न केवल सामाजिक संरचना को चुनौती देते हैं, बल्कि गांव की सदियों पुरानी मानसिकता को भी झकझोरते हैं। लेकिन इन सवालों का जवाब उसे समर्थन के रूप में नहीं, बल्कि तीखी प्रतिक्रिया के रूप में मिलता है।समाज उसे 'अपना' नहीं मानता। उच्च जाति के लोग उसे अपमानित करते हैं, उसे 'बागी' या 'समाज तोड़ने वाला' कहते हैं। वे कहते हैं, "यह लड़का हमारी परंपराओं को नष्ट करना चाहता है," या "यह जाति तोड़ने की साजिश कर रहा है।" दूसरी ओर, उसकी अपनी जाति के लोग—जो बदलाव से डरते हैं—उसका साथ नहीं देते। वे कहते हैं, "क्या ज़रूरत है इतना आगे बढ़ने की? हम जैसे हैं, वैसे ही ठीक हैं।" इस तरह, वह न केवल बाहरी समाज से, बल्कि अपनी ही जाति और समुदाय से अलग-थलग हो जाता है।उदाहरण के लिए, मैने अपने ही गांव में 15 अगस्त को स्कूल के मंच पर सभी जातियों के बुजुर्गों को एक साथ बैठने की बात कही मैने कहा कि संविधान सबको समान अधिकार देता है, और स्कूल कोई सामाजिक मंच नहीं बल्कि लोकतांत्रिक मंच हे यहां पर भेदभाव गलत है। लेकिन गांव के उच्च जाति के लोगों ने मेरा सामाजिक विरोध किया । मुझे अपने यादव समाज के लोगों ने भी साथ नहीं दिया, क्योंकि उन्हें डर था कि इससे गांव में तनाव बढ़ेगा और उनकी स्थिति और खराब हो जाएगी। इस तरह, में अकेला पड़ गया। यह घटना दिखाती है कि गांवों में बदलाव की राह कितनी कठिन है, और कैसे एक साहसी युवा को अपने ही समाज से अलग-थलग होना पड़ता है।

जातिगत भेदभाव के खिलाफ लड़ने वाले युवा का संघर्ष केवल सामाजिक स्तर तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह उसके परिवार तक पहुंचता है। गांवों में परिवार एक ऐसी इकाई है, जो सामाजिक नियमों और परंपराओं को सबसे सख्ती से लागू करती है। जब एक युवा समानता की बात करता है, तो

उसके अपने ही परिवार वाले उसका विरोध करने लगते हैं। वे कहते हैं, "ये सब बातें शहर वालों के लिए हैं," या "तू क्यों समाज से टकराव मोल ले रहा है?"यह विरोध कई कारणों से होता है। पहला, गांवों में परिवारों को सामाजिक प्रतिष्ठा की चिंता होती है। अगर कोई युवा भेदभाव के खिलाफ खड़ा होता है, तो परिवार को डर होता है कि इससे उनकी सामाजिक स्थिति पर आंच आएगी। उन्हें डर होता है कि गांव के लोग उन्हें 'बागी' या 'समाज विरोधी' कहेंगे। दूसरा, गांवों में परिवार अक्सर आर्थिक रूप से उच्च जाति के लोगों पर निर्भर होते हैं। अगर कोई युवा उच्च जाति के लोगों के खिलाफ बोलता है, तो परिवार को डर होता है कि इससे उनकी आजीविका प्रभावित होगी। तीसरा, गांवों में परिवारों की सोच बहुत रूढ़िगत होती है। वे बदलाव को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि उन्हें लगता है कि पुरानी परंपराएं ही सही हैं।उदाहरण के लिए, राजस्थान के एक गांव में एक युवा ने स्कूल में भेदभाव के खिलाफ आवाज़ उठाई। उसने शिक्षक से सवाल किया कि क्यों दलित बच्चों को अलग बैठाया जाता है। लेकिन जब वह घर लौटा, तो उसके पिता ने उसे डांटा और कहा, "तूने मास्टर साहब से सवाल करके हमारी इज्जत मिट्टी में मिला दी। अब अगर वे नाराज़ हो गए, तो तेरे छोटे भाई-बहनों को स्कूल में परेशानी होगी।" इस तरह, उस युवा को अपने ही परिवार से विरोध झेलना पड़ा। यह दिखाता है कि गांवों में बदलाव की राह में परिवार एक बड़ी बाधा बन सकता है।

जातिगत भेदभाव के खिलाफ लड़ने वाले युवा का संघर्ष केवल बाहरी नहीं, बल्कि आंतरिक भी होता है। जब वह समाज और परिवार से अलग-थलग हो जाता है, तो उसे गहरा अकेलापन महसूस होने लगता है। उसे लगता है कि वह अकेला है, और कोई भी उसकी बात को समझने वाला नहीं है। यह अकेलापन धीरे-धीरे उसके आत्मविश्वास को कम करता है। वह सोचने लगता है, "क्या मैं गलत हूँ? क्या मुझे यह लड़ाई छोड़ देनी चाहिए?"इसके

अलावा, उसे बार-बार अपमान और तानों का सामना करना पड़ता है। उच्च जाति के लोग उसे नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं, और उसकी अपनी जाति के लोग उसे 'अति उत्साही' या 'मुसीबत मोल लेने वाला' कहते हैं। यह सब उसके मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डालता है। वह डिप्रेशन, चिंता, और आत्म-संदेह का शिकार हो सकता है। कई बार तो वह इतना टूट जाता है कि उसे लगता है कि शायद चुप रहना ही बेहतर था।उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के एक गांव में एक दलित युवा ने गांव के कुएं से पानी भरने की कोशिश की। उच्च जाति के लोगों ने उसे अपमानित किया और धमकी दी कि अगर उसने दोबारा ऐसा किया, तो उसे गांव से निकाल दिया जाएगा। उसकी अपनी जाति के लोगों ने भी उसका साथ नहीं दिया, और कहा, "तूने बेवजह मुसीबत मोल ली। अब हम सबको इसका खामियाजा भुगतना पड़ेगा।" इस घटना के बाद वह युवा इतना टूट गया कि उसने गांव छोड़ने का फैसला कर लिया। यह दिखाता है कि भेदभाव के खिलाफ लड़ने वाले युवा को कितना गहरा मानसिक संघर्ष झेलना पड़ता है।

गांवों में सत्ता और जाति का गठजोड़ एक ऐसी सच्चाई है, जो भेदभाव को और मज़बूत करता है। अगर कोई ऊंची जाति का व्यक्ति सत्ता में है—जैसे सरपंच, प्रधान, या विधायक—और वह अन्याय करता है, तो समाज उसका विरोध नहीं करता। लेकिन अगर वही व्यक्ति 'अपनी जाति' का हो, तो उसके हर गलत काम को भी लोग नज़रअंदाज़ कर देते हैं। इसका कारण यह है कि जाति आज भी सत्य और असत्य का मापदंड बनी हुई है। लोग सच का साथ देने के बजाय जाति का साथ देना अधिक सुरक्षित मानते हैं।उदाहरण के लिए, मध्य प्रदेश के एक गांव में एक उच्च जाति का सरपंच मनरेगा के फंड को हड़प रहा था। गांव के एक दलित युवा ने इसकी शिकायत की और पंचायत में इस मुद्दे को उठाया। लेकिन गांव के उच्च जाति के लोगों ने सरपंच का समर्थन किया और कहा, "वह हमारी जाति का है, उसने जो

किया, सही किया।" दूसरी ओर, उस युवा को धमकियां मिलने लगीं, और उसकी अपनी जाति के लोगों ने भी उसका साथ नहीं दिया। इस तरह, सत्ता और जाति का गठजोड़ गांव में अन्याय को और मज़बूत करता है।यह मानसिकता न केवल सामाजिक स्थिरता के लिए, बल्कि लोकतंत्र के लिए भी एक खतरा है। जब समाज में एक आम व्यक्ति अपने अधिकारों की बात नहीं कर सकता, प्रशासन से न्याय नहीं मांग सकता, तो लोकतंत्र केवल कागज पर रह जाता है। गांवों में यह स्थिति बहुत आम है। लोग डरते हैं कि अगर उन्होंने सत्ता में बैठे लोगों के खिलाफ आवाज़ उठाई, तो उन्हें नुकसान होगा। इस डर की वजह से वे अन्याय को स्वीकार करने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

जातिगत भेदभाव के खिलाफ लड़ाई में शिक्षा एक शक्तिशाली हथियार है। गांव के युवाओं में शिक्षा के माध्यम से सामाजिक चेतना विकसित करना बहुत ज़रूरी है। उन्हें यह बताया जाना चाहिए कि संविधान में सबको समान अधिकार दिए गए हैं, और भेदभाव करना अपराध है। स्कूलों में बच्चों को यह सिखाना होगा कि जाति एक सामाजिक रचना है, न कि किसी की पहचान। उन्हें यह समझाना होगा कि हर इंसान बराबर है, चाहे वह किसी भी जाति से हो।शिक्षकों को भी इस दिशा में प्रशिक्षित करना होगा। अक्सर शिक्षक खुद भेदभावपूर्ण व्यवहार करते हैं, जो बच्चों में गलत संदेश जाता है। स्कूलों में ऐसे पाठ्यक्रम शामिल करने होंगे, जो समानता, भाईचारा, और सामाजिक न्याय की बात करें। साथ ही, स्कूलों में सामाजिक एकता को बढ़ावा देने वाले आयोजन करने होंगे, जैसे एक साथ भोजन करना, खेल-कूद में सभी बच्चों को बराबर मौका देना, और जाति-आधारित भेदभाव को सख्ती से रोकना।

बदलाव लाना अकेले का काम नहीं है—इसके लिए पूरे समुदाय को साथ

आना होगा। गांव के सभी समुदायों को मिलकर काम करना होगा। उच्च जाति के लोगों को यह समझना होगा कि भेदभाव न केवल दलितों को नुकसान पहुंचाता है, बल्कि यह पूरे गांव के विकास को रोकता है। अगर गांव में एक भी समुदाय पीछे रह जाता है, तो पूरा गांव पीछे रह जाता है।सामुदायिक आयोजनों, जैसे पंचायत की बैठकों, मेलों, और धार्मिक आयोजनों में सभी समुदायों को बराबर का मौका देना होगा। पंचायत को यह सुनिश्चित करना होगा कि गांव के सभी हिस्सों का बराबर विकास हो, चाहे वह उच्च जाति की बस्ती हो या दलित बस्ती। इसके अलावा, गांव के युवाओं को जागरूकता अभियान चलाने होंगे। वे नाटक, गीत, और कहानियों के माध्यम से लोगों को जाति-आधारित भेदभाव के नुकसान के बारे में बता सकते हैं।

गांव के लोगों को उनके कानूनी अधिकारों के बारे में जागरूक करना बहुत ज़रूरी है। उन्हें यह बताना होगा कि संविधान उन्हें समानता का अधिकार देता है और वे भेदभाव के खिलाफ शिकायत दर्ज कर सकते हैं। इसके लिए गांव में कानूनी जागरूकता शिविर आयोजित किए जा सकते हैं, जहां वकील और सामाजिक कार्यकर्ता लोगों को उनके अधिकारों के बारे में बता सकते हैं।साथ ही, प्रशासन को भी भेदभाव के मामलों में सख्ती से कार्रवाई करनी होगी। पुलिस और स्थानीय प्रशासन अक्सर उच्च जाति के लोगों के पक्ष में काम करते हैं। इस वजह से भेदभाव के शिकार लोग अपनी शिकायत दर्ज करने से डरते हैं। प्रशासनिक अधिकारियों को संवेदनशील बनाना होगा, ताकि वे निष्पक्षता से काम करें।

बदलाव की राह कठिन है, लेकिन असंभव नहीं। हर गांव में अगर एक भी युवा सच्चाई और समानता के लिए खड़ा हो, तो वह पूरे समाज की सोच को झकझोर सकता है। ऐसे कई उदाहरण हैं, जहां गांव के युवाओं ने बदलाव की

मिसाल कायम की है।उदाहरण के लिए, हरियाणा के एक गांव में एक युवा ने गांव के स्कूल में भेदभाव के खिलाफ अभियान शुरू किया। उसने स्कूल के बच्चों को एक साथ भोजन करने के लिए प्रेरित किया और शिक्षकों से कहा कि वे बच्चों को समानता की शिक्षा दें। शुरु में उसे बहुत विरोध झेलना पड़ा, लेकिन धीरे-धीरे गांव के लोग उसके साथ जुड़ने लगे। आज उस गांव के स्कूल में भेदभाव की घटनाएं बहुत कम हो गई हैं। यह दिखाता है कि बदलाव संभव है, बशर्ते हम हिम्मत न हारें।

गांवों की सच्चाई केवल जातीय भेदभाव तक सीमित नहीं है। यहां गरीबी, आर्थिक शोषण, सामाजिक दबाव और मनोवैज्ञानिक उत्पीड़न की एक गहरी और जटिल परत है, जो समाज को भीतर ही भीतर खोखला करती जा रही है। गांव का गरीब व्यक्ति केवल अमीरी और संसाधनों से वंचित नहीं है, बल्कि वह सामाजिक समर्थन, आत्म-सम्मान और अधिकारों की जानकारी से भी दूर है।

जिसके पास पैसा है, वह गांव में अपनी सत्ता और प्रभाव से गरीबों को दबाता है। लेकिन इससे भी अधिक चिंताजनक बात यह है कि जब कोई गरीब या दलित युवक इस अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने की कोशिश करता है, तो उसका विरोध केवल अमीर या उच्च जातियों से ही नहीं, बल्कि उन्हीं गरीबों और दलितों से भी होता है, जो खुद उसी पीड़ा के शिकार हैं।

ये लोग उस युवक को “समझदार नहीं”, “उपद्रवी”, या “झगड़ालू” कहकर अकेला कर देते हैं। जबकि सच यह है कि अगर सभी गरीब और दलित एकजुट हो जाएँ, तो वे किसी भी अन्याय के खिलाफ एक बड़ी ताक़त बन सकते हैं। लेकिन 80% मामलों में उनके खिलाफ हो रहे अत्याचारों की ज़िम्मेदारी खुद उन्हीं पर है – क्योंकि वे बदलाव के लिए खड़े नहीं होना चाहते। वे उन्हीं के अधीन रहना पसंद करते हैं जो उन्हें दबाते हैं।

यह मानसिक गुलामी सबसे बड़ा शत्रु है। इतिहास यही सिखाता है कि भारतीयों को कोई बाहर से नहीं तोड़ सकता था, लेकिन जब उनके बीच एकता नहीं थी, जातीय और धार्मिक भेदभाव था – तब अंग्रेजों को राज करना आसान हो गया। गांवों में भी यही स्थिति है: एक-दूसरे से लड़ना, जाति-पंथ के नाम पर बंट जाना, और फिर उन पर शासन करना उन लोगों के लिए आसान हो जाता है, जो सत्ता में हैं।

गांव का युवा यह समझे कि जीवन केवल खाने-पीने और ज़िंदा रहने का नाम नहीं है। अगर आत्मसम्मान नहीं है, तो जीवन अधूरा है। इसलिए जरूरी है कि अपने सम्मान और अधिकारों के लिए खड़ा हुआ जाए। नेताओं पर निर्भर रहना मूर्खता है। कोई भी नेता बिना स्वार्थ के किसी का साथ नहीं देता। यदि तुम खुद एक नहीं हो, तो तुम्हारी जाति का नेता भी तुम्हारा साथ नहीं दे सकता।

गांव में जो लोग सरकारी पदों पर बैठे हैं – जैसे शिक्षक, सचिव, प्रधान – वे सामाजिक कल्याण की जिम्मेदारी भूल चुके हैं। वे केवल पैसा कमाने और अपना रुतबा बनाए रखने में लगे हैं। उन्हें न बच्चों की शिक्षा से कोई मतलब है, न ही गांव के सामाजिक विकास से। यह समझना जरूरी है कि जब तक जनता जागरूक नहीं होगी, तब तक कोई सिस्टम काम नहीं करेगा।

तुम्हें खुद खड़ा होना होगा। अपने ऊपर हो रहे अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठानी होगी। तुम्हारे बच्चों को शिक्षा का अधिकार है – और तुम चाहो तो उन्हें उच्च शिक्षा अपने गांव में ही दिला सकते हो। लेकिन समस्या ये है कि लोग किसी का व्यक्तिगत दुश्मन नहीं बनना चाहते। वे डरते हैं कि अगर उन्होंने किसी शिक्षक, सचिव या अधिकारी के खिलाफ आवाज उठाई तो वे उनका दुश्मन बन जाएगा।

यह डर तुम्हारा सबसे बड़ा बंधन है। तुम्हें किसी का अहसान नहीं लेना है, किसी का कर्ज नहीं चुकाना है – सिर्फ सच का साथ देना है।

सच की लड़ाई लड़ना सीखो।

जब तक गांव का आम आदमी अपने हक के लिए नहीं लड़ेगा, तब तक न तो गांव बदलेगा, न देश। यह किताब केवल कहानियाँ नहीं बताएगी – यह तुम्हें जगाने की कोशिश है। तुम खुद को पहचानो, उठो, बोलो और चलो – क्योंकि बदलाव तुम्हारे अंदर से शुरू होगा।

जातिगत भेदभाव के खिलाफ आवाज़ उठाने के लिए साहस, धैर्य, और विश्वास की आवश्यकता है। जब तक गांव के लोग स्वयं अपने भीतर से बदलाव नहीं लाएंगे, तब तक गांधी, लोहिया, अंबेडकर के विचार सिर्फ़ भाषणों और किताबों तक सीमित रहेंगे। गांव का युवा इस बदलाव का सबसे बड़ा हथियार है। वह अपनी शिक्षा, जागरुकता, और साहस से न केवल अपने गांव को, बल्कि पूरे समाज को एक नई दिशा दे सकता है।अब समय है कि हम अपनी चुप्पी तोड़ें और समानता की नई कहानी लिखें—अपने ही गांव से। हर गांव में एक साहसी युवा की ज़रूरत है, जो भेदभाव की दीवारों को तोड़े और समानता का झंडा बुलंद करे। यह लड़ाई आसान नहीं है, लेकिन अगर हम एकजुट होकर लड़ें, तो हम इसे ज़रूर जीत सकते हैं। गांव बदलेगा, तो देश बदलेगा—और यह बदलाव हमसे ही शुरू होगा।

शिक्षा की विफलता और निष्क्रियता का जाल

गांव की प्रगति और परिवर्तन की नींव शिक्षा है। लेकिन जब यही शिक्षा प्रणाली निष्क्रिय, भ्रष्ट और जातिवादी हो जाती है, तब वह समाज को ऊपर उठाने की बजाय उसे और नीचे धकेलती है।

हम जब बच्चों की शिक्षा की बात करते हैं, तो हमारी पहली उंगली स्कूलों की ओर उठती है, लेकिन असल में सबसे बड़ी जिम्मेदारी समाज और परिवार की होती है। समाज में यह एक आम प्रवृत्ति बन चुकी है कि यदि कोई बच्चा असफल होता है, तो उसकी असफलता का दोष स्कूल या शिक्षक पर डाल दिया जाता है, लेकिन कोई यह सोचने की कोशिश नहीं करता कि उस बच्चे को घर से क्या मिला, उसे समाज से कैसी प्रेरणा मिली, और उसके चारों ओर किस तरह का वातावरण रहा। शिक्षा केवल पाठ्यपुस्तकों से नहीं मिलती, वह घर के व्यवहार, समाज की सोच, और आस-पास के लोगों की बातों से भी आकार लेती है। जब एक बच्चा देखता है कि उसके पिता या बड़े बुजुर्ग उसके सामने तंबाकू, गुटखा, शराब जैसी चीज़ों का सेवन करते हैं, लेकिन बाहर जाकर बड़ों के सामने ये सब करने से मना करते हैं, तो उसके

मन में एक दोहरी मानसिकता जन्म लेती है। वह यह नहीं समझ पाता कि असली सम्मान किसे देना है — बड़ों को या उस मासूम सोच को जो अभी आकार ले रही है? यही कारण है कि बच्चों के सामने सबसे पहले उदाहरण बनने की ज़िम्मेदारी बड़ों की है। अगर किसी समाज में बड़ों को ही अपने कर्मों की जिम्मेदारी का एहसास नहीं है, तो वहां के बच्चे सिर्फ किताबी ज्ञान से मूल्य नहीं सीख सकते। दूसरी ओर, जब समाज के कुछ तथाकथित उच्च वर्ग के लोग अपने बच्चों को यह सिखाते हैं कि वे जन्म से ही दूसरों से ऊँचे हैं, कि वे एक विशेष जाति से हैं इसलिए बेहतर हैं, तो यह भावना उनके विकास में सबसे बड़ी रुकावट बन जाती है। वे बच्चे समाज में सह-अस्तित्व, समानता और सहिष्णुता का मूल्य नहीं सीखते। वे खुद को श्रेष्ठ मानने लगते हैं और दूसरों को हेय। यही श्रेष्ठता का ग़लत अहंकार धीरे-धीरे उनके अंदर आत्म-मुग्धता और सामाजिक अलगाव को जन्म देता है, जिसकी परिणति यह होती है कि वे वास्तविक जीवन की चुनौतियों को स्वीकार करने में विफल हो जाते हैं। यही कारण है कि जो समाज खुद को सबसे ऊंचा मानता है, वह आज भी अपने आप में बंद है, उसे लगता है कि वह सबसे ऊपर है लेकिन भीतर से वह जड़ता और अहंकार से घिरा हुआ है। जबकि दूसरी ओर, दलित और वंचित वर्ग के बच्चे आज शिक्षा में आगे बढ़ रहे हैं, क्योंकि वे संघर्ष का मूल्य समझते हैं, उनके भीतर यह एहसास होता है कि उन्हें अपने स्थान को सिद्ध करना है। उन्होंने सीखा है कि जाति से ऊँचाई नहीं मिलती, कर्म से मिलती है। इसी कारण वे हर कठिनाई का सामना करके भी लगातार आगे बढ़ रहे हैं। लेकिन यह तब तक पूरी तरह सफल नहीं हो सकता, जब तक समाज के हर तबके में यह स्वीकार न हो जाए कि बच्चों को जन्म से ही यह एहसास न कराया जाए कि वे जाति से ऊँचे या नीचे हैं। यदि कोई बच्चा यह मान ले कि वह सिर्फ इसलिए बेहतर है क्योंकि वह किसी विशेष कुल या जाति में जन्मा है, तो यही उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। शिक्षा का पहला सबक यह होना चाहिए कि हम सब बराबर हैं, और जो श्रेष्ठता है वह

सिर्फ ज्ञान, आचरण, और सेवा भाव से मिलती है। यही कारण है कि अब समय आ गया है कि समाज में बच्चों के मन में बिठाई जा रही जातीय श्रेष्ठता या हीनता की भावना को जड़ से समाप्त किया जाए। जब तक समाज यह नहीं मानेगा कि हर बच्चा एक समान है, और उसे अपने कर्म से ऊँचाई हासिल करनी है, तब तक कोई भी शैक्षणिक सुधार संभव नहीं है। यह ज़िम्मेदारी सबसे पहले माता-पिता और परिवार के बड़ों की है, कि वे अपने बच्चों को समानता का पाठ पढ़ाएं, उन्हें अपने से छोटों के प्रति भी सम्मान और विनम्रता का व्यवहार सिखाएं। यदि किसी परिवार में बच्चा यह देखेगा कि उसके माता-पिता घरेलू सहायकों, गरीबों, दलितों, या निम्नवर्ग के लोगों से अभद्रता से पेश आते हैं, तो वह भी यही व्यवहार सीखेगा। उसके भीतर यह संस्कार नहीं पनप सकेगा कि इंसान की पहचान उसके आचरण से होती है, जाति से नहीं। और यदि यह शिक्षा बचपन से ही दी जाए, तो वह बच्चा बड़ा होकर एक जिम्मेदार नागरिक बनेगा, न कि एक जातिवादी नेता या सामाजिक विषमता फैलाने वाला व्यक्ति। भारत जैसे देश में, जहां विविधता ही शक्ति है, वहां बच्चों को एकता और समरसता का पाठ पढ़ाना सबसे जरूरी है। इसलिए आज आवश्यकता है कि हम केवल स्कूलों की आलोचना करने के बजाय अपने घरों को भी सुधारें, अपने व्यवहार की समीक्षा करें, और यह तय करें कि हम बच्चों को क्या दिखा रहे हैं, क्या सिखा रहे हैं, और क्या समझा रहे हैं। यदि हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे सही मायनों में शिक्षित हों, तो हमें खुद को बदलना होगा — अपने गुटखे, तंबाकू, गालियों और जातिवादी सोच से दूर होना होगा। हमें अपने घर को ऐसा बनाना होगा, जहां बच्चे सम्मान से जीना सीखें, न कि जातिगत श्रेष्ठता या भय से। हमें अपने बच्चों को यह बताना होगा कि शिक्षा सिर्फ नौकरी पाने का ज़रिया नहीं है, यह इंसान बनने का माध्यम है — एक ऐसा इंसान जो सभी को बराबर समझे, सभी के साथ बराबर का व्यवहार करे, और समाज में बदलाव की ताक़त बने। यही वह शिक्षा है जो किसी किताब में नहीं, बल्कि आपके और

हमारे आचरण में छिपी है। और यही शिक्षा ही समाज का भविष्य तय करेगी। इसलिए आज अगर हमें अपने बच्चों का भविष्य उज्जवल बनाना है, तो हमें सिर्फ स्कूल नहीं, खुद को भी सुधारना होगा। अपने बच्चों के लिए सबसे बड़ा उपहार यही होगा कि हम उन्हें यह यकीन दिलाएं — न कोई जन्म से ऊँचा होता है, न नीचा — बल्कि हर कोई कर्म से बड़ा बनता है।

गांव की प्रगति और परिवर्तन की नींव शिक्षा है। लेकिन जब यही शिक्षा प्रणाली निष्क्रिय, भ्रष्ट और जातिवादी हो जाती है, तब वह समाज को ऊपर उठाने की बजाय उसे और नीचे धकेलती है।

1. शिक्षा व्यवस्था का असली चेहरा

गांव के सरकारी स्कूलों की हालत किसी से छुपी नहीं है।

शिक्षक स्कूल में सिर्फ हाज़िरी लगाने आते हैं।

बच्चे बिना पढ़ाई के पास होते हैं।

मिड-डे मील और छात्रवृत्ति जैसे योजनाएं भ्रष्टाचार की चक्की में पीसी जाती हैं।

कक्षा में किताब से ज़्यादा मोबाइल चलता है।

शिक्षा का उद्देश्य नौकरी पाना बन चुका है, न कि समाज को समझना और बदलना।

2. निष्क्रियता का वातावरण

गांवों के स्कूलों में निष्क्रियता एक परंपरा बन चुकी है।

हेडमास्टर खुद लेट आते हैं।

छात्र उपस्थिति की जगह मजदूरी या खेतों में रहते हैं।

अभिभावक स्कूल जाकर यह पूछते तक नहीं कि उनके बच्चे क्या सीख रहे हैं।

सब चुप हैं – शिक्षक भी, विद्यार्थी भी, और माता-पिता भी।

3. जातिवादी सोच की शुरुआत

सरकारी स्कूलों में बच्चों को पढ़ाई से पहले जातियों में बाँट दिया जाता है।

टीचर दलित बच्चों को पीछे बिठाते हैं।

मिड-डे मील में खाना अलग-अलग बर्तन में परोसा जाता है।

उच्च जाति के बच्चे दलित बच्चों से झूठा पानी नहीं पीते।

यही से बच्चों के मन में ऊँच-नीच की सोच पैदा होती है।

और यही सोच बड़े होकर वयस्क भेदभाव बन जाती है।

4. शिक्षा योजनाएं भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ी

सरकार करोड़ों खर्च कर रही है –

स्कूल भवन बन रहे हैं

मुफ्त किताबें, यूनिफॉर्म, साइकल

छात्रवृत्ति योजना

लेकिन ये सुविधाएं लोगों तक पूरी नहीं पहुंचती।

किताबें आधी मिलती हैं

साइकल की गुणवत्ता घटिया होती है

छात्रवृत्ति में घोटाला आम है

अभिभावक शिकायत करना नहीं जानते – और शिक्षक जवाबदेही से बच जाते हैं।

5. युवाओं में सोच की कमजोरी

जब शिक्षा सिर्फ परीक्षा पास करने तक सीमित हो जाती है, तब

विचारशीलता मर जाती है।

गांवों के लड़के सरकारी नौकरी को ही सफलता समझते हैं।

वे समाज की समस्याओं को नहीं समझते

वे सोचते हैं "हमें क्या लेना?"

वो बदलाव की नहीं, सिर्फ जुगाड़ और सुरक्षा की सोच रखते हैं

इसलिए गांव में कोई नेतृत्व पैदा नहीं होता।

6. माता-पिता की चुप्पी

अभिभावक अपने बच्चों को स्कूल भेजते हैं, लेकिन यह जानने की कोशिश नहीं करते कि वे क्या पढ़ रहे हैं, कौन पढ़ा रहा है, या पढ़ाई हो भी रही है या नहीं।

अगर बच्चा स्कूल नहीं जाता, तो भी कोई चिंता नहीं

अगर शिक्षक हर दिन छुट्टी पर है, तो भी कोई सवाल नहीं

अगर बच्चे दसवीं पास करके भी पढ़ नहीं सकते, तो भी कोई शिकवा नहीं

यह चुप्पी सबसे घातक है।

7. शिक्षा से जुड़ा डर और मोह

गांव में कई लोग कहते हैं:

“सरकारी मास्टर से लड़ना मतलब सरकारी नौकरी से दूर होना।”

“बच्चे को पढ़ा रहे हैं, लेकिन ज़्यादा पढ़ा तो हमारे ही खिलाफ हो जाएगा।”

“बहुत पढ़ लिया तो गांव छोड़ेगा, शहर भागेगा।”

हमारे बुंदेलखंड में एक कहावत है -

कम पढ़ें सो हर से गए, ज्यादा पढ़े सो घर से गए।

यानी शिक्षा को आज़ादी और आत्मनिर्भरता के बजाय डर और अलगाव का माध्यम माना जा रहा है।

8. समाधान की ओर – क्या किया जा सकता है?

जन-जागरुकता अभियान: गांव में शिक्षा के अधिकार और गुणवत्ता पर सामूहिक बैठकें होनी चाहिए।

शिक्षकों की जवाबदेही: स्कूलों में शिक्षक-उपस्थिति, पढ़ाई का रजिस्टर और सामुदायिक निगरानी अनिवार्य की जानी चाहिए।

शिक्षा में नेतृत्व: पढ़े-लिखे युवाओं को आगे आकर पंचायत स्तर पर शिक्षा सुधार पर काम करना चाहिए।

बाल संसद या विद्यार्थी पंचायत: बच्चों को स्कूल स्तर पर नेतृत्व और

अभिव्यक्ति का मंच देना चाहिए।

निष्कर्ष: शिक्षा नहीं बदलेगी तो गांव नहीं बदलेगा

शिक्षा ही वह हथियार है जिससे गांव अपनी गरीबी, भेदभाव और चुप्पी को तोड़ सकता है।

लेकिन आज की व्यवस्था में यह हथियार जंग खा चुका है।

हमें इस जंग को साफ करना होगा।

हर गांववासी को यह समझना होगा कि –

"अगर आज तुमने अपने बच्चे को सही शिक्षा नहीं दिलाई, तो कल तुम्हारा ही बच्चा उसी सिस्टम का शिकार बनेगा जिससे तुम डरते हो।"

ग्राम प्रशासन में भ्रष्टाचार और जनता की चुप्पी

योजना में घरों की मंजूरी तो मिलती है, लेकिन आधा पैसा काट लिया जाता है या सिर्फ कुछ लोगों तक ही पहुँचता है; वृद्धावस्था पेंशन, विधवा पेंशन, विकलांग पेंशन जैसी संवेदनशील योजनाएं तक लूट का शिकार हो रही हैं—कभी मरे हुए लोगों के नाम पर पेंशन उठाई जाती है, तो कभी जिनका कोई नहीं, उनके हिस्से की राशि भी बिचौलिये हजम कर जाते हैं। आंगनबाड़ी केंद्रों में जो पोषण आहार भेजा जाता है, वह गरीब बच्चों तक नहीं पहुंचता, बल्कि दुकानों में बिकता मिल जाता है; गर्भवती महिलाओं को मिलने वाली सुविधाएं भी रिश्वत के बिना नहीं मिलतीं। यह सारा तंत्र एक ऐसी सांठगांठ पर टिका है, जिसमें सरपंच और सचिव की जोड़ी सबसे ताकतवर मानी जाती है—इनके इशारों पर ही विकास तय होता है, और इन्हीं की जेबों में अधिकांश सरकारी पैसा समा जाता है। ठेके उन्हीं के रिश्तेदारों या खास लोगों को दिए जाते हैं, काम उन्हीं लोगों को मिलते हैं जो राजनीतिक रूप से वफादार हों या "हां में हां" मिलाना जानते हों। कोई भी फाइल बिना घूस, सिफारिश या दबाव के आगे नहीं बढ़ती। जब कोई गांव का जागरूक नागरिक पंचायत की बैठक में हिसाब मांगता है या RTI के माध्यम से सवाल करता है, तो उसे "नेता बनने का शौकीन", "उपद्रवी", "गांव का दुश्मन" जैसी उपाधियाँ देकर चुप कराने की कोशिश की जाती है। यह सब मिलकर एक ऐसे माहौल को जन्म देता है, जहां सच्चाई को बोलना अपराध बना दिया गया है और चुप रहना 'समझदारी'। इस चुप्पी का सबसे

बड़ा लाभ भ्रष्टाचारियों को मिलता है। गांव का आम आदमी सब जानता है—उसे पता है कि शौचालयों में सिर्फ गड्ढा बना है, टंकी नहीं; जानता है कि मनरेगा में मजदूरी नहीं मिली, फिर भी नाम आया है; समझता है कि विधवा को पेंशन नहीं मिली, लेकिन दस्तखत हो गए हैं—फिर भी वह कुछ नहीं कहता। क्यों? क्योंकि उसे डर लगता है। उसे लगता है कि "क्या फायदा? कोई सुनेगा नहीं", "सरपंच से बैर लेकर क्या मिलेगा?", "कभी हमें भी काम पड़ सकता है।" यह डर उसकी आवाज़ को दबा देता है, और वही डर धीरे-धीरे पूरे गांव को गुलाम बना देता है। जब किसी एक व्यक्ति में सवाल करने का साहस होता है, तो उसके ही घरवाले उसे चुप करा देते हैं—"पुलिस बुला लेगा", "तेरा परिवार बदनाम हो जाएगा", "तेरे चक्कर में सब उलझेंगे।" यह डर सिर्फ घर तक सीमित नहीं रहता, यह डर सत्ता की ताकत बन जाता है। RTI लगाने वालों को परेशान किया जाता है, उनके खिलाफ पुराने केस निकाल लिए जाते हैं, और हर संभव प्रयास किया जाता है कि गांव में कोई भी सच बोलने की हिम्मत न कर सके। यही वजह है कि गांव का लोकतंत्र अब लोकतंत्र न रहकर, कुछ चुनिंदा लोगों की तानाशाही में तब्दील हो चुका है। पुलिस और पटवारी जो कभी शासन और न्याय के रक्षक थे, अब उत्पीड़न के औजार बन चुके हैं। गरीब की शिकायत पर पुलिस पहले उसे ही डरा देती है, उसे समझाने की बजाय धमकाती है। पटवारी ज़मीन की नाप-जोख में पक्षपात करता है, भ्रष्टाचार करता है, और न्याय पाने के लिए भी आम आदमी को सिफारिश, रिश्वत या झूठ का सहारा लेना पड़ता है। इस सारे तंत्र का असर सबसे ज़्यादा उस युवा वर्ग पर होता है जो कुछ करना चाहता है, बदलाव लाना चाहता है, लेकिन उसे एक ऐसा वातावरण मिलता है जो उसे या तो दबा देता है या भ्रष्ट बना देता है। ऐसे में प्रश्न यह उठता है कि इस दलदल से निकलने का रास्ता क्या है? जवाब सीधा है—चुप्पी तोड़नी होगी। यदि गांव का हर व्यक्ति यह समझ ले कि "चुप रहना सिर्फ डर नहीं है—ये अन्याय को ताक़त देना है", तो बदलाव की शुरुआत उसी क्षण से होगी। जैसे

एक दीमक धीरे-धीरे लकड़ी को खा जाती है, वैसे ही यह चुप्पी पूरे लोकतंत्र को खोखला कर रही है। यदि हम आज भी चुप हैं, तो यह समझ लीजिए कि हम अपने ही बच्चों को एक ऐसा गांव दे रहे हैं जहां सच बोलना अपराध होगा, जहां ईमानदारी की कोई कदर नहीं होगी, और जहां विकास सिर्फ भाषणों में मिलेगा, ज़मीनी हकीकत में नहीं। इसलिए यह ज़रूरी है कि हम एक नयी सोच के साथ आगे आएं—युवा जागरूकता समितियां बनें, RTI को हथियार बनाएं, पंचायतों में जन-सुनवाई की अनिवार्यता तय हो, लोक शिक्षा अभियान चले और सबसे ज़रूरी बात—हम निडर नेतृत्व को बढ़ावा दें। जब तक गांव का हर नागरिक यह नहीं मानेगा कि पंचायत पर उसका अधिकार है, डर नहीं—तब तक कोई भी व्यवस्था पारदर्शी और जवाबदेह नहीं बन सकती। और अगर हम नहीं बोले, तो भ्रष्टाचार ज़िंदा रहेगा, और लोकतंत्र का सबसे निचला स्तंभ—गांव—हमारी ही आंखों के सामने ढहता चला जाएगा।

गांवों में भ्रष्टाचार की जड़ें जितनी गहरी हैं, उतनी ही गहराई से फैली है उसकी संरक्षित प्रणाली, जिसमें गांव का सरपंच और सचिव मिलकर एक ऐसी सत्ता बनाते हैं जो लोकतंत्र की आत्मा को ही निगल जाती है। यह रिश्ता सिर्फ पदों का नहीं बल्कि लाभों और स्वार्थों का गठबंधन है, जिसमें सबसे पहले मारा जाता है – पारदर्शिता का विचार। एक आम ग्रामीण जब पंचायत भवन की ओर देखता है तो उसे यह उम्मीद होती है कि यहां से उसके गांव की तक़दीर बदलेगी, लेकिन जैसे ही वह किसी योजना की जानकारी मांगने जाता है, उसके सामने खड़ी हो जाती है एक दीवार – भ्रष्टाचार की, पक्षपात की और सबसे ज़्यादा – चुप्पी की। गांवों में अब विकास की योजनाएं नहीं बनतीं, सौदे होते हैं – किसके घर में आवास बनेगा, किसके

खेत की मेढ़ सुधरेगी, किसके नल से पानी आएगा – यह सब इस बात पर तय होता है कि किसका सरपंच या सचिव से कितना संबंध है। ये दो लोग मिलकर पंचायत की फाइलों को अपने निजी गुलाम बना चुके हैं। यह भी एक विडंबना है कि पंचायत की हर योजना – चाहे वह मनरेगा हो, या प्रधानमंत्री आवास योजना, चाहे स्वच्छ भारत मिशन हो या पेंशन योजना – इन सबकी पहली सीढ़ी होती है "मोहरे चुनना" यानी उन्हीं लोगों को लाभ देना जो चुप रहें, या जिनसे पैसा लिया जा सके। गांव में आप किसी लाभार्थी से पूछिए कि उसके घर में जो शौचालय बना, वह वास्तव में उपयोगी है या सिर्फ दिखावे के लिए – तो अधिकतर आपको बतायेंगे कि 'गड्ढा खोदा गया, टंकी नहीं बनी', लेकिन यह शिकायत दर्ज नहीं होती क्योंकि वह जानता है कि अगली योजना में उसका नाम काट दिया जाएगा। यह डर ही सरपंच-सचिव की असली पूंजी है। और यही डर उन्हें सत्ता में बनाए रखता है। पंचायत में कोई अगर यह पूछ ले कि "पिछले तीन वर्षों में ग्राम निधि का क्या उपयोग हुआ?" तो उसे न सिर्फ नज़रअंदाज़ किया जाता है, बल्कि यह कहकर चुप करा दिया जाता है कि "तुम नेता बनना चाहते हो क्या?" या फिर "तुम्हें सबके सामने बदनाम कर देंगे।" कई बार पंचायत की बैठकों में ऐसे सवाल पूछने वालों को बिठाया ही नहीं जाता। उन्हें बताया जाता है कि 'बैठक कल थी' या 'सूचना लगी थी, तुमने नहीं देखी तो हमारी गलती नहीं।' यानी सूचना का अधिकार भी सरपंच-सचिव के इशारों पर चलता है। फाइलें जो आम नागरिक देख सकता है, उन्हें दिखाने में बहाने बनाए जाते हैं – 'क्लर्क छुट्टी पर है', 'फाइल ऑफिस में जमा है', 'सिस्टम डाउन है' – जबकि सच्चाई यह होती है कि उन फाइलों में इतना कुछ गड़बड़ होता है कि कोई देखेगा तो हंगामा हो जाएगा। जिन गांवों में ठेके दिए जाते हैं, वहां पहले से तय होता है कि 'काम किसे मिलेगा', 'कितना कमीशन देना होगा', 'कितने प्रतिशत राशि वापस आएगी' – और अगर कोई नया व्यक्ति उस काम को करना चाहे, चाहे वह योग्य हो, ईमानदार

हो, तो उसे न सिर्फ हतोत्साहित किया जाता है बल्कि यह भी कहा जाता है कि “तुम्हारे पास ऊपर की सिफारिश नहीं है।” पंचायत में जो भी काम होता है वह ऊपर से नीचे तक 'कट सिस्टम' पर चलता है – यानी हर स्तर पर एक प्रतिशत तय होता है, जो अधिकारी, सचिव, इंजीनियर, ठेकेदार और सरपंच के बीच बंटता है। और चूंकि यह बात सबको मालूम है, इसलिए कोई इस पर सवाल नहीं करता, क्योंकि सबको डर है कि अगर एक चक्र टूटेगा तो पूरी व्यवस्था हिल जाएगी। इस भ्रष्ट संरचना का सबसे पीड़ादायक पहलू यह है कि जब कोई युवा इससे लड़ने की कोशिश करता है, जब वह RTI डालता है, जब वह सरकारी योजनाओं की सूची मांगता है, तो उसका नाम गांव में 'काटने लायक' बना दिया जाता है। उसके बारे में अफवाहें उड़ाई जाती हैं – “ये लड़का ज्यादा पढ़ गया है, अब गांव को बिगाड़ेगा”, “सरपंच को जेल भिजवाना चाहता है”, “नेता बनने का शौक है” – और धीरे-धीरे उसके अपने पड़ोसी या परिवार बाले भी उससे दूरी बनाने लगते हैं, यह सोचकर कि कहीं उनके भी काम रुक न जाएं। यही वह समाजिक दमन है जो गांव के हर उस व्यक्ति को चुप करता है जो सवाल पूछना चाहता है। सरपंच और सचिव इस चुप्पी को अपनी शक्ति बना लेते हैं। वे जानते हैं कि गांव में अगर 100 लोग रहते हैं, तो उनमें से 90 किसी न किसी योजना या काम के लिए पंचायत पर निर्भर हैं – ऐसे में कोई उनके खिलाफ बोलेगा नहीं, और बोलेगा भी तो अकेला। अगर किसी ने आंगनबाड़ी केंद्र की अनियमितताओं की शिकायत की, तो उसकी बहन की आंगनबाड़ी में भर्ती रोक दी जाएगी। अगर किसी ने पेंशन में धांधली का मुद्दा उठाया, तो उसके पिता की वृद्धावस्था पेंशन फाइल में 'अधूरी जानकारी' बताकर रोक दी जाएगी। इस तरह पंचायत खुद ही न्यायाधीश बन जाती है, खुद ही अपराधी और खुद ही दंडाधिकारी – और यह सब इसलिए संभव होता है क्योंकि गांव में कोई बोलने वाला नहीं बचा। ग्रामीणों के मन में यह बैठ गया है कि “सरपंच-सचिव से पंगा नहीं लेना चाहिए”, क्योंकि वे स्कूल की मरम्मत भी रुकवा सकते हैं, बिजली के

ट्रांसफार्मर की मांग भी खारिज करवा सकते हैं, और यहां तक कि राशन कार्ड भी रद्द करवा सकते हैं। जब सत्ता एक ही जगह केंद्रित हो जाती है और जनता चुप हो जाती है, तब लोकतंत्र का अंतिम किला भी ढहने लगता है। आज गांवों में यही हो रहा है – गांव की सरकार, गांव का विकास, गांव की योजनाएं – सब कुछ उन्हीं दो-तीन लोगों की मुट्ठी में कैद है, जिन्हें चुनौती देना अब एक सामाजिक अपराध जैसा बना दिया गया है। और इस पूरी कहानी में जो सबसे ज्यादा नुकसान में है – वह है गांव का गरीब, मजदूर, दलित, विधवा, वृद्ध, विकलांग और युवा। उन्हें पता है कि उनके हक का पैसा आ चुका है, लेकिन उन्हें यह भी पता है कि वह पैसा सरपंच के घर की टाइल्स में लगा है, सचिव की बाइक में लगा है, ठेकेदार के जेब में गया है – फिर भी वे चुप हैं, क्योंकि उन्हें डर है – कि अगर उन्होंने कुछ कहा, तो अगली बार उन्हें कोई भी योजना नहीं मिलेगी। इस प्रकार यह चुप्पी ही भ्रष्टाचार की असली ताकत बन गई है। गांव के मंदिर, चौपाल, स्कूल, पंचायत भवन – सब मौन हैं। उनमें अब संवाद नहीं होता, सवाल नहीं उठते, चर्चाएं नहीं होतीं। युवा मोबाइल में व्यस्त हैं, बुजुर्ग “अब क्या हो सकता है?” की मनोवृत्ति में डूबे हैं, महिलाएं डर और असुरक्षा में जी रही हैं और बच्चे – वे सब देख रहे हैं, सीख रहे हैं, और समझ रहे हैं कि 'इस व्यवस्था में चुप रहना ही जीने की सबसे बड़ी शर्त है।' अगर यह स्थिति नहीं बदली गई, अगर पंचायत को जवाबदेह नहीं बनाया गया, अगर सरपंच-सचिव की भूमिका को पारदर्शिता से नहीं जोड़ा गया, अगर ग्रामीणों ने अपने अधिकारों की रक्षा करना नहीं सीखा – तो आने वाले वर्षों में गांव एक लोकतांत्रिक इकाई नहीं, बल्कि लूटतंत्र का उदाहरण बन जाएंगे। और जब बच्चा पहली बार यह देखेगा कि उसका पिता मजदूरी के पैसे के लिए महीनों पंचायत भवन के चक्कर काटता रहा और अंत में थक कर बैठ गया – तो वह यकीनन यह सीखेगा कि इस व्यवस्था में न्याय नहीं मिलता, सिर्फ चुप्पी बिकती है। इसीलिए इस लेख का यह भाग यह प्रश्न लेकर सामने आता है कि – क्या हम

गांव को उस दिशा में ले जा रहे हैं जहां सच्चाई बोलने का मतलब अपराध बन जाए? अगर नहीं, तो फिर यह बदलाव हम किस दिन से शुरू करेंगे?

ग्रामीण समाज में महिलाएं

भारतीय ग्रामीण समाज में परंपराएं इतनी गहराई तक जमी हुई हैं कि वे जीवन की दिशा और फैसलों को प्रभावित करती हैं, और सबसे ज्यादा असर लड़कियों पर डालती हैं। आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी गांव की गलियों में यह सवाल अनकहा रह जाता है कि "लड़की को पढ़ाकर क्या करना है?" या "शादी तो करनी ही है, ज्यादा पढ़ेगी तो दिक्कत आएगी", और इन विचारों के पीछे छिपा है एक गहरा डर, एक रुढ़िवादी सोच और एक सामाजिक जड़ता, जिसने लड़कियों की शिक्षा को विवाह की पूर्व-शर्त बना दिया है, ना कि उनका अधिकार। अगर देखा जाए तो लड़कियों को शिक्षा से दूर रखना सिर्फ लैंगिक भेदभाव का मामला नहीं है, यह सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पतन का संकेत है जो पूरे समाज को पीछे धकेलता है। जहां एक ओर हम डिजिटल युग, महिला सशक्तिकरण और समानता की बात करते हैं, वहीं दूसरी ओर गांव की हकीकत यह है कि हजारों परिवार आज भी दहेज के बोझ को लड़कियों की "ज़िम्मेदारी" मानकर पालते हैं और उनके जीवन को एक सजावटी वस्तु में बदल देते हैं, जिसका मुख्य उद्देश्य शादी करना है — चाहे उसमें लड़की की इच्छाएं, प्रतिभाएं, या सपने कुचल ही क्यों न जाएं। यह बात विचारणीय है कि जिस समाज में एक गरीब किसान अपनी बेटी की शादी के लिए कर्ज लेकर 3 लाख रुपये दहेज में देने को तैयार है, वहीं वह यह सोच भी नहीं पाता कि यही पैसा अगर उसकी बेटी की उच्च शिक्षा पर खर्च होता, तो शायद वह न केवल आत्मनिर्भर बनती, बल्कि पूरे परिवार की दशा बदल सकती थी। दहेज के लिए लिया गया कर्ज लौटाने में

पीढ़ियाँ लग जाती हैं, लेकिन शिक्षा में लगाया गया निवेश आने वाली पीढ़ियों की सोच को बदलने की ताकत रखता है। दुख की बात यह है कि यह सोच अधिकांश ग्रामीण परिवारों में आज भी गायब है। गांवों में लड़कियों की शिक्षा को लेकर वातावरण कई तरह से नकारात्मक बना हुआ है — स्कूल दूर है, रास्ता सुरक्षित नहीं है, स्कूल में टीचिंग की गुणवत्ता नहीं है, या फिर समाज में यह धारणा है कि पढ़ी-लिखी लड़कियां "संस्कारों से भटक" जाती हैं। ये सारी धारणाएं केवल बहाने हैं, असली वजह है मानसिकता जो यह मानने को तैयार ही नहीं कि एक लड़की का भी स्वतंत्र अस्तित्व होता है और शिक्षा उसका अधिकार है, अनुग्रह नहीं।

अगर हम इस मानसिकता को जड़ से देखें, तो यह परंपरा और बदलाव के बीच चल रहे संघर्ष का प्रतीक है। परंपराएं कभी समय के साथ बदलने के लिए थीं, लेकिन जब परंपरा को 'मर्यादा' का नाम देकर बंद दीवारों में क़ैद कर दिया गया, तब वह परंपरा नहीं, अत्याचार बन गई। आज भी गांवों में यह प्रथा जीवित है कि लड़की सुबह से शाम तक घर के काम करे, भाई को पढ़ने दिया जाए, लेकिन लड़की को दसवीं के बाद पढ़ाना फिजूल खर्ची माना जाए। यह फिजूल खर्ची वही समाज करता है जो शादी में लाखों रुपये सजावट, भोजन और दिखावे पर खर्च कर देता है, लेकिन जब वही लड़की कहती है कि वह आगे पढ़ना चाहती है, तो कहा जाता है, "अब ज्यादा पढ़कर क्या करोगी, ससुराल में तो तुम्हे खाना बनाना या काम ही करना है

1 ।" क्या रिश्ता इतना छोटा शब्द है कि वह शिक्षा से डरता है? यह भय परंपरा का नहीं है, यह उन लोगों का है जो लड़कियों को बराबरी में खड़ा होते नहीं देख सकते। यह परंपरा का ढोंग उस समय भी सामने आता है जब एक गांव की लड़की अगर किसी शहर के कॉलेज में पढ़ाई करने जाए, तो पूरा

गांव बात बनाने लगता है, चरित्र पर सवाल उठाता है, और परिवार को शर्मिंदा करता है — पर कोई यह नहीं सोचता कि वही लड़की जब एक सरकारी नौकरी में लगती है तो वही लोग उसे सम्मान की नज़रों से देखने लगते हैं।

यहां सबसे बड़ा प्रश्न उठता है – सम्मान की असली परिभाषा क्या है? क्या लड़की का सम्मान सिर्फ इस बात में है कि वह सिर झुकाकर घर के कोनों में अपने सपनों को मारती रहे? क्या उसका सम्मान केवल चुप रहने में है? क्या उसका सम्मान सिर्फ घर के काम करने, परंपराओं को निभाने और बिना सवाल किए हर ज़िम्मेदारी को स्वीकार करने में है? अगर यही सम्मान है तो यह अपमान का सबसे सुंदर आवरण है। असली सम्मान तब है जब एक लड़की को बोलने दिया जाए, सोचने दिया जाए, निर्णय लेने दिया जाए। जब उसे अपने भविष्य का रास्ता खुद चुनने की आज़ादी मिले। जब उसे किसी और के भरोसे नहीं, बल्कि अपनी काबिलियत पर खड़ा किया जाए। गांवों में यह सोच लानी होगी कि लड़की को पढ़ाना सिर्फ उसका अधिकार ही नहीं, पूरे समाज की प्रगति का रास्ता है। अगर एक लड़की पढ़ती है, तो एक पूरा परिवार शिक्षित होता है। अगर वह आत्मनिर्भर होती है, तो वह अपनी बेटियों को भी आत्मनिर्भर बनाती है, जिससे पूरे समाज में बदलाव की लहर आती है। लेकिन इसके लिए बदलाव सिर्फ सरकार की योजनाओं से नहीं होगा, यह बदलाव लोगों की सोच से आएगा।

दहेज की कुप्रथा को सिर्फ कानून से नहीं मिटाया जा सकता, जब तक समाज यह ना समझे कि दहेज में खर्च किया गया पैसा सिर्फ बोझ है और

शिक्षा में लगाया गया पैसा भविष्य की नींव है। अगर एक पिता अपनी बेटी की शादी में 5 लाख रुपये देने को तैयार है, तो उसे यह समझना होगा कि यही राशि उसकी बेटी के B.Sc, B.Ed या किसी और प्रोफेशनल कोर्स में लगकर उसे एक सशक्त नागरिक बना सकती है। लेकिन यह सोच तभी आएगी जब लोग यह समझेंगे कि एक लड़की का जीवन केवल विवाह तक सीमित नहीं है, बल्कि उसका भी एक उद्देश्य है – जैसे हर इंसान का होता है। शादी एक सामाजिक संस्था है, लेकिन शिक्षा जीवन की बुनियाद है – और जब तक इस बुनियाद को मज़बूत नहीं किया जाएगा, तब तक परंपराएं सिर्फ जंजीर बनी रहेंगी।

गांवों में बदलाव तब आएगा जब समाज खुद से पूछेगा – क्या हम सिर्फ परंपरा निभा रहे हैं या आने वाली पीढ़ी को भी उन्हीं अंधेरे रास्तों पर धकेल रहे हैं जहां सवाल पूछना अपराध है? एक समाज की पहचान इस बात से नहीं होती कि वह कितनी परंपराएं निभाता है, बल्कि इस बात से होती है कि वह कौन सी गलत परंपराओं को तोड़ता है। सम्मान उसी समाज में होता है जो सच का साथ देता है, जो बेटियों को बोझ नहीं, भविष्य मानता है, जो दहेज को अपमान और शिक्षा को सम्मान समझता है, जो बदलाव से डरता नहीं, बल्कि उसे अपनाता है। इसलिए जरूरी है कि आज हम खुद से यह सवाल करें कि हमारी बेटियों को क्या चाहिए – एक सजावटी शादी या सशक्त शिक्षा? और जब यह सवाल समाज के हर घर, हर माता-पिता, हर भाई, हर शिक्षक, और हर पंचायत के बीच गूंजेगा, तब कहीं जाकर परंपराओं की यह बेड़ियां टूटेंगी और एक नई सुबह का आगाज़ होगा – जहां बेटियां झुकेंगी नहीं, उड़ेंगी।

हमें खुद कदम बढ़ाना होगा

बदलाव कोई और नहीं लाएगा – हमें खुद ही लाना होगा। गाँव की तस्वीर तब तक नहीं बदलेगी जब तक हम अपने भीतर की निष्क्रियता को नहीं तोड़ते। अक्सर देखा गया है कि गाँव के लोग अपने अधिकारों और कर्तव्यों को नहीं समझते, और इसी वजह से वे अत्याचार, भेदभाव और भ्रष्टाचार के सामने चुप्पी साध लेते हैं। यह निष्क्रियता ही उन समस्याओं की जड़ है जो गाँव के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास में बाधक बनती हैं। जब तक हम अपने आप को, अपने सोचने-समझने के तरीके को नहीं बदलेंगे, तब तक कोई भी बाहरी सुधार सफल नहीं हो सकता।

स्वयं के सुधार से शुरुआत करना जरूरी है। हमें अपने अंदर झाँककर देखना होगा कि हम किन पुरानी मान्यताओं और गलत विचारों में उलझे हुए हैं, जो हमें आगे बढ़ने से रोकती हैं। गाँव में जाति और लिंग के आधार पर भेदभाव गहरे पैठे हुए हैं, लेकिन सबसे पहले हमें यह मानना होगा कि यह भेदभाव केवल दूसरों की गलती नहीं, बल्कि हम सभी की मिलीजुली जिम्मेदारी है। पुरुषों के बीच लड़कियों के प्रति रूढ़िवादी सोच, महिलाओं की हिम्मत तोड़ने वाली परंपराएँ, और कमजोर वर्ग के बीच भी जातिवाद और भेदभाव – ये सब हमें खुद सुधारने होंगे। जब तक हम अपने घरों, परिवारों और समुदायों में बराबरी, सम्मान और न्याय के सिद्धांतों को नहीं अपनाएंगे, तब तक बड़ा बदलाव संभव नहीं।

महात्मा गांधी, डॉ. भीमराव अंबेडकर, राममनोहर लोहिया, भगत सिंह, और सुभाषचंद्र बोस जैसे महान क्रांतिकारियों ने जो आदर्श स्थापित किए थे, वे आज भी हमारे गाँवों के लिए मार्गदर्शक हैं। ये महापुरुष सामाजिक अन्याय, जातिवाद, गरीबी और उत्पीड़न के खिलाफ आवाज़ उठाने का साहस और समझ लेकर आए थे। हमें उनकी शिक्षाओं को समझना होगा और गाँव में उन्हीं के विचारों को जीवित करना होगा। हमें अपनी युवा पीढ़ी को भी इन आदर्शों से जोड़ना होगा ताकि वे समाज में व्याप्त गलत प्रथाओं को चुनौती दे सकें।

ग्राम सभा, जो लोकतंत्र की सबसे निचली इकाई है, उसका महत्व भी हमें समझना होगा। यह सभा केवल एक औपचारिक बैठक नहीं, बल्कि गाँव के विकास, न्याय और अधिकारों के लिए सबसे प्रभावी मंच है। ग्राम सभा के माध्यम से ही हम अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठा सकते हैं, भ्रष्टाचार को रोक सकते हैं, और सामाजिक भेदभाव के खिलाफ मिलकर लड़ सकते हैं। परंतु इसके लिए भी हमें जागरूक होना पड़ेगा, सक्रिय होना पड़ेगा। केवल बैठक में आना ही पर्याप्त नहीं, सवाल पूछना, जवाब माँगना, और ज़िम्मेदारी लेना जरूरी है।

जाति और लिंग के आधार पर जो भेदभाव गाँव में व्याप्त हैं, उन्हें मिटाने के लिए सबसे पहले हमें अपने सोच में बदलाव लाना होगा। यह सोच कि 'मेरी जाति श्रेष्ठ है', या 'महिलाओं को कमतर समझना चाहिए', या 'जो कमजोर हैं,

उन्हें अधिकार नहीं मिलने चाहिए' – ये विचार हमारे समाज को पीछे खींच रहे हैं। इन पूर्वाग्रहों को तोड़ना होगा और सबको समान समझना होगा। यही सामाजिक जिम्मेदारी है जो हम सभी पर है।

निष्क्रियता का दुष्परिणाम यह होता है कि हम न केवल अपने अधिकारों से वंचित रहते हैं, बल्कि अन्याय और भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा देते हैं। लेकिन जब हम सक्रिय होते हैं, जब हम जागरूक होते हैं, तो हम अपने समाज को बेहतर बनाने की दिशा में कदम बढ़ाते हैं। सक्रियता से ही बदलाव संभव है – जब हम अपने अधिकारों को जानते हैं, उन्हें मांगते हैं, और उनपर टिके रहते हैं। जब हम अपने गाँव में सामाजिक बुराइयों, जातीय भेदभाव, और भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज़ उठाते हैं, तो हम गाँव को समृद्धि और न्याय की ओर ले जाते हैं।

अंततः, यह बदलाव एक दिन में नहीं होगा। यह एक प्रक्रिया है जिसमें धैर्य, साहस और निरंतरता की जरूरत होती है। हमें अपने भीतर के डर को हराकर, अपने समाज की बेड़ियों को तोड़ना होगा। तभी हम अपने गाँव को एक ऐसे समाज में बदल पाएंगे, जहां जाति, लिंग, और वर्ग के आधार पर भेदभाव न हो, जहां हर व्यक्ति को उसके अधिकार मिले, और जहां सभी मिलकर विकास की नई कहानी लिखें।

गाँव का बदलाव तभी संभव है जब हम सब मिलकर निष्क्रियता को त्यागकर सक्रियता की राह चुनें। यह मार्ग कठिन जरूर होगा, लेकिन याद

रखिए, इतिहास ने बार-बार दिखाया है कि जब जनता जागती है, तो कोई भी अन्याय टिक नहीं सकता। इसलिए आज ही कदम बढ़ाइए, अपने अधिकार जानिए, गाँव की ग्राम सभा में हिस्सा लीजिए, और बदलाव की मशाल खुद जलाइए। यही हमारी ज़िम्मेदारी है, यही हमारी शक्ति है। बदलाव कोई और नहीं लाएगा – हम लाएँगे।

पंचायतें जो सामाजिक न्याय करती है

गाँवों की ज़िंदगी ऊपर से भले ही शांत, हरियाली भरी और सरल लगे, लेकिन इसकी ज़मीन के नीचे एक ऐसा सामाजिक जाल फैला हुआ है जो गाँव के आम आदमी को हर रोज़ कहीं न कहीं जकड़ता है — खासकर तब, जब बात ज़मीन की होती है। गाँव में ज़मीन सिर्फ एक संपत्ति नहीं, बल्कि यह सम्मान, पहचान और पीढ़ियों की थाती होती है। यही कारण है कि जब ज़मीन पर झगड़ा होता है, तो वह केवल दो पक्षों के बीच का मामला नहीं रहता, वह पूरे गाँव की हवा को जहरीला कर देता है। ये झगड़े कभी भाइयों में, कभी पड़ोसियों में, तो कभी जातियों के बीच होते हैं और इनकी शुरुआत अक्सर बेहद मामूली विवाद से होती है, जैसे खेत की मेंड़ खिसकना, रास्ता रोक देना, नाली की दिशा बदल जाना या खसरे में नाम गलत चढ़ जाना। अगर समय पर इन मामलों को शांतिपूर्वक सुलझा लिया जाए तो विवाद जन्म लेने से पहले ही मर सकता है, लेकिन अफ़सोस की बात यह है कि आज के गाँव में ऐसे झगड़ों के सस्ते, सरल और निष्पक्ष समाधान की कोई व्यवस्था नहीं है। जो पंचायत व्यवस्था कभी गाँव के आत्मनिर्भर सामाजिक तंत्र का सबसे मजबूत स्तंभ हुआ करती थी, वही आज खुद पक्षपात, जातिवाद और पुरानी सोच का अड्डा बन चुकी है। संविधान ने पंचायतों को तीन स्तरों पर सशक्त किया — ग्राम सभा, पंचायत समिति और ज़िला

परिषद, और यह व्यवस्था इस उद्देश्य से बनाई गई थी कि गाँव की छोटी-बड़ी समस्याएं स्थानीय स्तर पर ही निपट जाएँ। लेकिन आज भी अनेक गाँवों में पंचायत का संचालन ईमानदार , शिक्षित और तार्किक लोगों के हाथ में नहीं, बल्कि उच्च जाति और उम्रदराज लोगों के पास होता है। ये वो लोग होते हैं जो सामाजिक पदानुक्रम में 'परंपरागत न्यायाधीश' की भूमिका निभाते हैं। गाँव की चौपाल पर जब कोई झगड़ा आता है, तो शिक्षित युवाओं को बोलने का हक तक नहीं, गाँव के उस बुज़ुर्ग को बुलाते हैं जो 'ठाकुर साहब', 'पंडित जी' या 'यादव जी' के नाम से जाना जाता है। पंचायत की कुर्सी पर वही बैठता है, वही सुनता है, और वही फ़ैसला सुनाता है। उसकी बात को "अंतिम निर्णय" मान लिया जाता है, भले ही वह पूरी तरह एकतरफा और अन्यायपूर्ण हो। उस निर्णय पर सवाल उठाने की हिम्मत किसी ग़रीब, दलित, महिला या युवा में नहीं होती, क्योंकि यह "परंपरा" के खिलाफ जाना माना जाता है। यही परंपरा आज गाँवों के न्याय को खोखला कर रही है। एक लोकतांत्रिक देश में जहाँ सबको बराबरी का अधिकार है, वहाँ गाँवों में न्याय देने का काम अब भी वंशानुगत, जातिगत और पितृसत्तात्मक ढांचे पर टिका हुआ है। और जब न्याय रुढ़िवादी लोगों से संचालित हो, तो वह न्याय नहीं, दमन बन जाता है। यह स्थिति केवल कुछ गाँवों की नहीं, बल्कि भारत के लाखों गाँवों की सच्चाई है, जहाँ पंचायत की चौपाल सिर्फ एक सामाजिक मंच नहीं, बल्कि ग्राम सभा पर विश्वास करना छोड़ दिया। वहाँ ग़रीब की कोई सुनवाई नहीं होती, महिला की कोई गिनती नहीं होती, और युवा की बात को "असभ्यता" कहा जाता है। किसी भी विवाद में दोनों पक्षों को बराबरी से सुनने की परंपरा अब खत्म हो चुकी है। आज तो जो पक्ष सामाजिक रूप से ताकतवर है, पंचायत पहले से ही उसी की तरफ झुकी होती है। और जब निर्णय होता है, तो गाँव के लोग यह नहीं सोचते कि यह सही था या गलत, वे केवल यह देखते हैं कि फ़ैसला किसके पक्ष में गया — और यही समाज की सबसे बड़ी विफलता है। यह व्यवस्था ग़रीब को चुप रहने के लिए मजबूर

करती है। अगर वह विरोध करे तो उसे 'बगावती', 'गद्दार', 'जातिवादी' जैसे नामों से नवाज़ा जाता है, और उसका सामाजिक बहिष्कार तक कर दिया जाता है। वह पंचायत के खिलाफ कुछ कहे, तो उसे 'संस्कारहीन' कहा जाता है। और यही वजह है कि लोग अब पंचायत से डरते हैं, ना कि वहाँ से न्याय की उम्मीद करते हैं। इसलिए अब अधिकतर झगड़ों में लोग पंचायत को छोड़ सीधे थाने या कचहरी का रास्ता पकड़ते हैं, जो और ज़्यादा खर्चीला, जटिल और भ्रष्ट प्रक्रिया है। लेकिन इसमें दोष आम ग्रामीण का नहीं, बल्कि उस सामाजिक व्यवस्था का है जिसने पंचायत को कभी सशक्त किया ही नहीं, बल्कि उसे एक जातिवादी और बुज़ुर्ग-प्रधान संस्था बनाए रखा। जो युवक शिक्षित है, न्याय की बात करता है, संविधान की भाषा बोलता है, उसे पंचायत में बैठने तक नहीं दिया जाता। उसे 'अभिमानी' या 'नासमझ' कह कर दरकिनार कर दिया जाता है, और कहा जाता है कि "अभी तो दूध के दाँत भी नहीं टूटे, और पंचायत में घुस आया।" ऐसा बोलने वाले भूल जाते हैं कि संविधान ने मत देने का अधिकार 18 वर्ष में दे दिया है, और ज़िम्मेदारी निभाने का अधिकार उससे भी पहले जागृत हो जाता है। पंचायतें अगर बदलेंगी नहीं, तो गाँव नहीं बदलेगा। और अगर गाँव नहीं बदलेगा, तो भारत कैसे बदलेगा? इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि पंचायत का असली नेतृत्व चुने गए प्रतिनिधियों के पास रहे, ना कि उन लोगों के पास जो केवल परंपरा के नाम पर फैसला सुनाते हैं। पंचायतों को जवाबदेह और पारदर्शी बनाया जाए, फ़ैसलों की लिखित रिकॉर्डिंग हो, और अगर कोई फ़ैसला पक्षपातपूर्ण हो, तो उसे चुनौती देने का अधिकार हो। हर पंचायत में महिला, दलित, पिछड़ा वर्ग और युवा को प्रतिनिधित्व मिले — ना सिर्फ कागज़ पर, बल्कि व्यवहार में। निर्णय करते समय हर व्यक्ति की बात सुनी जाए, और जो भी तर्क आधारित, संवेदनशील और न्यायिक दृष्टि से उचित हो, उसी को स्वीकार किया जाए। केवल उम्र, जाति या दबदबे के आधार पर किसी की बात को अंतिम मत मानना समाज के लिए सबसे बड़ा धोखा है। अगर हम अपने

गाँवों में सच्चा न्याय चाहते हैं, तो पंचायतों को सामंती ढांचे से निकालकर लोकतांत्रिक बनाना ही होगा। एक ऐसी पंचायत व्यवस्था जहाँ युवा, बुजुर्ग, महिलाएं और शिक्षित लोग वास्तव में निर्णय ले, और वह निर्णय संविधान और सामाजिक न्याय की भावना के अनुरुप हो। तभी "गाँव की अदालत" नाम सार्थक होगा। वरना यह अदालत केवल एक तमाशा बनकर रह जाएगी।

जब गाँव की चौपाल न्याय देने में नाकाम होती है और पंचायत की सभा सामाजिक दबदबे और जातिगत जाल में फँसी होती है, तब गाँव का आम आदमी मजबूरी में उस दरवाज़े की ओर रुख करता है जिसे वह आखिरी उम्मीद मानता है — थाना। थाने का नाम सुनते ही गाँव का गरीब काँप उठता है, लेकिन यही डर उसे वहाँ जाने से रोकता भी नहीं, क्योंकि जब ज़मीन पर कब्ज़ा हो गया हो, जब गाली-गलौज, मारपीट या जान से मारने की धमकी मिल रही हो और पंचायत हाथ खड़े कर दे या कह दे "हम क्या कर सकते हैं, अब ये क़ानून का मामला है", तो फिर पुलिस ही एकमात्र रास्ता बचता है। लेकिन गाँव के किसी भोले किसान को यह पता नहीं होता कि वह जिस दरवाज़े पर न्याय की उम्मीद लेकर जा रहा है, वही दरवाज़ा उसके लिए एक नया आर्थिक और मानसिक नरक खोलने वाला है। जैसे ही वह थाना पहुँचता है, वहाँ उसकी स्थिति एक "पीड़ित" से ज़्यादा एक "अवांछित बोझ" की होती है। थाने में बैठे मुंशी या स्टाफ पहले उसे घंटों इंतज़ार कराते हैं, फिर उससे FIR नहीं लिखते, बल्कि "समझौता कर लो, क्या करोगे केस

करके” जैसे तर्कों से उसे थका देते हैं। लेकिन जैसे ही उन्हें पता चलता है कि दूसरे पक्ष ने पहले ही थाने में जाकर कुछ “मैनेज” कर लिया है या “थानेदार साहब को पहले से जानता है”, तो शिकायतकर्ता की सुनवाई बंद कर दी जाती है। और अगर वह शिकायत करने वाला व्यक्ति गरीब हो, दलित हो, मजदूर हो या पढ़ा-लिखा ना हो, तब तो उसकी हालत और खराब होती है। उससे बार-बार बयान बदलवाया जाता है, उसके कागज़ात फाड़ दिए जाते हैं, और कभी-कभी तो झूठे केस में उल्टा उसे ही नामज़द कर दिया जाता है। ये वही पुलिस तंत्र है जिसे संविधान ने “क़ानून और व्यवस्था का रक्षक” कहा था, लेकिन जो गाँवों में धीरे-धीरे “क़ानून का व्यापारी” बन चुका है। पुलिस अब किसी मामले में सच्चाई जानने के बजाय, ये देखने लगती है कि किस पक्ष से ज़्यादा पैसा मिल सकता है, कौन पक्ष ज़्यादा राजनीतिक रुप से ताकतवर है, और FIR किसके खिलाफ लिखने से उन्हें कौन-कौन कॉल कर सकता है। गाँवों में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ दोनों पक्ष एक मामूली विवाद को लेकर थाना पहुँचते हैं, लेकिन वहाँ पुलिस वाले पहले दोनों से "अपनी बात कहने की फीस" लेते हैं, फिर झगड़े को और बड़ा बना देते हैं ताकि “समझौता” महंगा हो जाए। इस पूरे खेल में पुलिस का कोई नुकसान नहीं होता, नुकसान होता है सिर्फ उस गरीब का, जिसने उम्मीद की थी कि पुलिस उसकी मदद करेगी। जब पुलिस ये देखती है कि मामला कोर्ट में जाएगा तो वे खुद ही दोनों पक्षों को समझौते के लिए मजबूर करते हैं — “भाई साहब, केस चलेगा तो दस साल लगेगा, वकील की फीस, तारीख़ पे तारीख़, सुलह कर लो” — और उस सुलह में भी उनकी जेब गर्म होती है। कभी-कभी तो पुलिस दोनों पक्षों को अलग-अलग बुलाकर धमकाती है, “देखो तुम्हारे ऊपर धारा 107/116 लगाई जा सकती है”, “जेल भेज देंगे”, “CRPC की कार्रवाई होगी”, और लोग डर कर समझौता कर लेते हैं। ये समझौता दिखने में समाधान होता है, लेकिन असल में वह न्याय से दूर भागने की मजबूरी होती है। पुलिस के इस भ्रष्ट और पक्षपाती रवैये का असर

सबसे ज़्यादा गाँव की महिलाओं पर होता है। जब कोई महिला अपने साथ हुए अत्याचार की रिपोर्ट लिखवाने जाती है — छेड़छाड़, मारपीट, बलात्कार, या घरेलू हिंसा — तो उससे ऐसे सवाल पूछे जाते हैं जो उसे और भी शर्मिंदा कर देते हैं। “तू वहाँ गई ही क्यों थी?”, “क्या पहन रखा था?”, “देर से क्यों लौटी?”, “गाँव में बदनामी हो जाएगी, सोच ले” — और इस तरह से पुलिस का रवैया आरोपी की मदद करता है, पीड़िता की नहीं। कई बार गाँव के दबंग आरोपी थाने पहुँचकर पुलिस से दोस्ती कर लेते हैं, और फिर महिला को उल्टा ब्लैकमेल किया जाता है — “मामला झूठा बना दिया जाएगा”, “पुलिस केस वापस नहीं लेगी तो तू खुद फँस जाएगी”। गरीबों, दलितों, महिलाओं और मजदूरों के लिए थाने का मतलब न्याय नहीं, बल्कि एक नई पीड़ा की शुरुआत है। अब सोचिए, जब गाँव में पंचायत नहीं सुनती, और थाना सिर्फ पैसे लेकर फैसला करता है, तो गाँव का आम आदमी कहाँ जाए? कोर्ट ही अंतिम उपाय बचता है, लेकिन कोर्ट तक पहुँचने के लिए वकील चाहिए, पैसे चाहिए, और सालों की हिम्मत चाहिए। इस पूरी व्यवस्था में सबसे बड़ी विडंबना यह है कि पुलिस अपनी ड्यूटी को छोड़कर “न्याय दलाली” का व्यवसाय कर रही है। थानों में बैठे पुलिसकर्मी एफआईआर लिखने से पहले सौदा करते हैं — “धारा कौन सी लगेगी?”, “गंभीर केस बना दें?”, “या सामान्य बना दें?” — यह सब पुलिस तय करती है, न्याय नहीं। अगर आप अमीर हैं, तो पुलिस आपकी कहानी मान लेगी, गरीब हैं तो आपको ही दोषी बना देगी। ऐसी सच्चाई को देखकर कई बार पीड़ित समझ ही नहीं पाता कि उसने थाना आकर गलती कर दी या सही किया। गाँवों में अब यह धारणा बन चुकी है कि “थाना जाना मतलब खर्चा बढ़ाना”, और इसी डर से कई लोग अत्याचार सह लेते हैं, लेकिन रिपोर्ट नहीं कराते। और अगर रिपोर्ट कर भी दें, तो कुछ महीनों बाद आरोपी बाइज़्ज़त बरी हो जाता है क्योंकि या तो गवाह डर गए होते हैं, या पुलिस ने जांच ढंग से नहीं की होती, या केस कमजोर बना दिया गया होता है। और फिर कहा जाता है,

"कानून ने काम किया, आरोपी निर्दोष निकला।" लेकिन असल में दोष कानून का नहीं, बल्कि उसे चलाने वालों का है। अगर पुलिस अपनी भूमिका ईमानदारी से निभाए, तो ना सिर्फ अपराध रुकेंगे, बल्कि पंचायत की विफलता की भरपाई भी हो सकेगी। लेकिन आज का सच यह है कि पुलिस न्याय की नहीं, सत्ता की सेवा कर रही है। नेता, गुंडे, दबंग — सबके साथ पुलिस की मिलीभगत होती है, और आम आदमी इन सबके बीच पिसता है। कई बार गाँव में विवाद होते ही पुलिस आती है, गाड़ी में बैठा कर दोनों पक्षों को ले जाती है, और फिर वहीं से सौदेबाज़ी शुरु होती है — "20 हजार दो, केस नहीं बनेगा", "नाम नहीं डालेंगे FIR में, 15 हजार लगेंगे" — और ये सब रात के अंधेरे में, बिना किसी रसीद के होता है। ऐसा नहीं कि हर पुलिसकर्मी गलत है, लेकिन जो गलत नहीं भी है, वह भी सिस्टम के दबाव में या तो चुप रहता है या समझौता कर लेता है। कई अच्छे पुलिसकर्मी भी जब ईमानदारी से केस को लेते हैं, तो ऊपर से दबाव आ जाता है — "इसका नाम निकाल दो", "इस पर केस मत बनाओ", "ये हमारा आदमी है" — और जब पुलिस पर ही भरोसा ना हो, तो गाँव के लोग खुद को असहाय समझते हैं। इसलिए जरुरी है कि पुलिस व्यवस्था में भी सुधार हो। जब तक पुलिस निष्पक्ष नहीं होगी, तब तक न्याय की कोई भी प्रक्रिया सार्थक नहीं हो सकती। ओर पुलिस के इस तरह के रवैए के जिम्मेदार हम खुद हैं हमने कभी उनके खिलाफ आवाज नहीं उठाई।हमें यह भी समझना होगा कि थाना कोई डराने की जगह नहीं, बल्कि मदद की जगह होनी चाहिए — एक ऐसा स्थान जहाँ जाने वाला व्यक्ति डरा हुआ नहीं, सुरक्षित महसूस करे। गाँवों में थाने को जनता के साथ संवाद करना चाहिए, लोगों को उनके अधिकार बताने चाहिए, और हर विवाद को संवेदनशीलता से सुलझाने की कोशिश होनी चाहिए, ना कि उसे और बढ़ाने की। जब तक पुलिस व्यवस्था दलाली से बाहर नहीं निकलेगी, तब तक न्याय बिकता रहेगा — और गाँवों की अदालतें केवल एक सपना बनकर रह जाएंगी। आज ज़रुरत है कि पुलिस को भी

गाँव के विकास और न्याय की सोच में शामिल किया जाए, उसे जवाबदेह बनाया जाए, और पीड़ित को इंसान समझा जाए, सिर्फ केस नंबर नहीं।

कचहरी की गलियों में फँसा आम आदमी

एक घर का झगड़ा दूसरे की चाय में घुलता है, तीसरे के ताने में उतरता है और चौथे की पंचायत में बहस बन जाता है। पहले-पहल आदमी उम्मीद करता है कि "चलो, गाँव में ही बैठ-बैठकर हल निकाल लेंगे", लेकिन जब गाँव की पंचायत अपने-अपने स्वार्थ और जाति के खाँचों में बँटी होती है, तब न्याय का रास्ता टेढ़ा हो जाता है। विशेषकर जब पंचायत सभा का नेतृत्व करने वाले लोग खुद जातिगत श्रेष्ठता, उम्र और धन के नशे में चूर होते हैं, और गाँव के आम या गरीब व्यक्ति को बोलने तक नहीं दिया जाता, तब उस व्यक्ति को महसूस होता है कि उसके लिए अब कोई दरवाज़ा नहीं बचा।

वहीं से शुरु होती है उस आदमी की यात्रा कचहरी की ओर — एक ऐसी यात्रा जो उसे गाँव की कच्ची गलियों से उठाकर शहर की धूल भरी कोर्ट की सीढ़ियों तक ले जाती है। लेकिन यह सफर आसान नहीं होता, और न ही स्वाभाविक। गाँव का आदमी जब पहली बार अदालत जाने का नाम लेता है, तो सबसे पहले उसका खुद का परिवार उसे समझाता है, “क्या मिलेगा वहाँ जाकर?”, “कोर्ट-कचहरी का चक्कर मतलब उम्रभर की बरबादी।” फिर उसका पड़ोसी समझाता है — “जो गरीब लोग कोर्ट गए हैं, वो लौटे ही नहीं, वो तो वहीं मर-खप गए।” गाँव का समाज तो ऐसे लोगों को ‘लड़ाकू’, ‘बिगड़ैल’ और ‘अशांति फैलाने वाला’ भी कहने लगता है जो न्याय की लड़ाई में शहर तक पहुँचने की हिम्मत करते हैं। पर जब अन्याय का बोझ सहने

लायक नहीं रह जाता, तो एक दिन वह आदमी, अपनी फटी फाइल और पुराना खतौनी लेकर साइकिल से निकलता है — कोर्ट की ओर।

कोर्ट तक पहुँचने का मतलब गाँव से मन से बाहर निकलना होता है — जहाँ सब कुछ नया, अजनबी और डरावना लगता है। कोर्ट के गेट पर बैठा चायवाला, वकीलों की लाइन, बेलदारों की आवाज़, मुहर की थप-थप और सरकारी हिंदी – सब कुछ ऐसा जैसे किसी और दुनिया में आ गया हो। वो आदमी सोचता है कि “गाँव में कोई बैठा सुनता, तो मैं यहाँ क्यों आता?” और यहीं से उसकी तकलीफ का असली दौर शुरु होता है। उसे सबसे पहले किसी वकील की तलाश करनी होती है। कोई गाँव का जानकार कहता है, “फलाना वकील लो, वो बड़े नाम वाला है।” लेकिन जब वकील मिलता है, तो पहला सवाल होता है – “कितना खर्च कर सकते हो?” फिर दूसरा – “मामला ज़मीन का है? तो सालों लगेगा।” और तभी वकील फाइल खोलने से पहले पांच सौ या हज़ार रुपया मांग लेता है।

अब गाँव का आदमी सोचने लगता है कि अगर गाँव में पंचायत न्याय देती, तो आज उसे किसी अदालत की चौखट पर हाथ जोड़ने की नौबत नहीं आती। पर अब वह उलझ चुका है। फिर शुरु होती है तारीख़ों की यात्रा – हर तारीख़ पर गाँव से आना, बस पकड़ना, चार लोग पूछते हैं “फिर क्या हुआ?”, और जवाब होता है – “आज सिर्फ तारीख़ मिली है।” सालों गुजरते हैं, कभी कागज़ पूरे नहीं होते, कभी गवाह नहीं आता, कभी कोर्ट बंद होता है, कभी वकील छुट्टी पर होता है। इसी बीच केस से जुड़े कई लोग मर-खप जाते हैं, लेकिन केस चलता रहता है। गाँव का वह गरीब आदमी धीरे-धीरे समझने

लगता है कि यहाँ मामला ‘सच’ का नहीं, ‘सब्र’ और ‘सिस्टम’ का है।

अदालत में भी, जिस तरह पंचायतों में जाति और हैसियत चलती है, वैसे ही कोर्ट में पैसे और पहुँच का बोलबाला होता है। कई बार सामने वाला पक्ष शहर का बड़ा आदमी होता है, उसके पास चार वकील, पावर ऑफ अटॉर्नी, नकली कागज़ और कोर्ट के क्लर्क तक से जान-पहचान होती है। वो हर पेशी पर कुछ नया अड़ंगा लगवाता है – एक बार स्टे ऑर्डर, दूसरी बार अपील, तीसरी बार कोई हाई कोर्ट का संदर्भ। और गरीब आदमी, जिसे उम्मीद थी कि "अब तो न्याय मिलेगा", वो सिर्फ बेंच पर बैठकर दूसरे की जीत का तमाशा देखता है। कचहरी में हर दरवाज़े पर फाइल चलाने वाला, टाइप करने वाला, तारीख़ बताने वाला – सब काम करते हैं लेकिन चाय-पानी के बिना नहीं। वो सोचता है कि गाँव में तो बस प्रधान या सरपंच को समझाना पड़ता था, यहाँ तो हर छोटा कर्मचारी भी राजा बना बैठा है।

कई बार कोर्ट में भी न्याय मिल जाता है, लेकिन उसकी कीमत इतनी ज़्यादा होती है कि न्याय पाने वाला खुद थक कर टूट चुका होता है। गाँव लौटकर वह किसी से कहता भी नहीं कि उसने केस जीता, क्योंकि लोगों के लिए उसका फैसला कोई खबर नहीं – वो कहते हैं, “अरे, दस साल बाद तो कुछ न कुछ होना ही था”। और अगर केस हार गया, तो वही लोग कहते हैं – “हमने पहले ही कहा था, कोर्ट से कुछ नहीं मिलता”। इस पूरे सफर में ना सिर्फ पैसे का नुकसान होता है, बल्कि रिश्ते भी टूटते हैं – भाई भाई से अलग हो जाता है, बाप बेटे से नाराज़ हो जाता है, और ज़मीन जिसका विवाद था, वो अक्सर खुद बेकार हो जाती है – या बिक जाती है, या कोर्ट केस के बोझ में

बँधक हो जाती है।

गाँव से कचहरी की यह यात्रा यह दिखाती है कि अगर गाँव में ही निष्पक्ष पंचायत व्यवस्था हो, तो 90% विवाद वहीं सुलझ सकते हैं। अगर पंचायतें लालच, जातिवाद और उम्र के घमंड से मुक्त होकर काम करें, अगर समाज का बुजुर्ग सिर्फ 'बुज़ुर्ग' ना रहकर एक 'न्यायप्रिय मार्गदर्शक' बने, अगर हर वर्ग – दलित, महिला, किसान, युवा – को पंचायत में बोलने और सुने जाने का अधिकार हो, तो कोई गाँव का व्यक्ति कचहरी की चौखट पर नहीं जाएगा। लेकिन जब इन चीज़ों की जगह पंचायतें "नमकहलाल" और "सिफारिशी" बन जाती हैं, तो आदमी सोचता है कि बाहर जा कर लड़े, चाहे कितनी भी कीमत चुकानी पड़े। अदालतें ज़रूरी हैं, लेकिन उनका डर ऐसा नहीं होना चाहिए कि लोग न्याय माँगने से पहले बीमार पड़ जाएं। आज जरूरत इस बात की है कि पंचायतों को फिर से "गाँव की अदालत" बनाया जाए – जहाँ बगैर जाति, बिना पैसे, सिर्फ सच्चाई के आधार पर निर्णय हो। जब पंचायत निष्पक्ष होगी, तो कोर्ट का बोझ भी कम होगा, और गाँव में शांति भी लौटेगी।

जमीनी विवाद भी ग्राम सभा सुलझा सकती है

गाँव में ज़मीन सिर्फ खेत नहीं होती, वह सम्मान, पहचान और वारिसों की विरासत होती है। लेकिन जब यही ज़मीन विवाद का कारण बनती है, तो वह खेत नहीं, युद्धभूमि बन जाती है – एक ऐसी लड़ाई, जो कभी भाइयों को अलग कर देती है, कभी दोस्तों को दुश्मन बना देती है। हर गाँव में एक कहानी जरूर होती है – जहाँ एक ही परिवार के दो हिस्से खेत की मेढ़ को

लेकर झगड़ रहे होते हैं, सीमाओं को लेकर संदेह होता है, और सच्चाई तक पहुँचने का कोई आसान रास्ता नहीं दिखता। जब ये झगड़े उठते हैं, तो गाँव में लोग सबसे पहले पटवारी का नाम लेते हैं – "पटवारी बुलाओ", "उसके बिना सीमांकन नहीं होगा", "जो कागज़ में लिख देगा, वही सच होगा।" और यहीं से शुरु होता है – सरकारी कर्मचारियों का खेल।

पटवारी, जो ज़मीन का राजस्व कर्मचारी होता है, सीमांकन की प्रक्रिया का सबसे पहला और सबसे ताक़तवर खिलाड़ी बन जाता है। लेकिन अफ़सोस, बहुत से गांवों में यह अधिकारी पैसा, जान-पहचान, और जातीय दबाव के आधार पर काम करता है। कई मामले में तो वह एक पक्ष के घर जाकर चाय पीता है और दूसरे के बारे में बिना देखे ही रिपोर्ट तैयार कर देता है। फिर ग्राम सभा में सीमांकन दिखाया जाता है, जो सिर्फ "कागज़ों की सच्चाई" होती है, ज़मीन की नहीं। यही कारण है कि गाँव के कई सच्चे मालिक अपनी ही ज़मीन से बेदखल हो जाते हैं, सिर्फ इसलिए कि उनका पक्ष किसी अधिकारी या दबंग के नज़दीक नहीं था।

लेकिन अब समय बदल गया है। अब तकनीक ने गाँव की चौपाल तक अपनी पहुँच बना ली है। अब सीमांकन सिर्फ पटवारी के भरोसे नहीं है, अब आम आदमी भी घर बैठे सीमांकन की प्रक्रिया में भाग ले सकता है — "डिजिटल इंडिया" और "डिजिटल भू-अभिलेख प्रणाली" ने यह संभव कर दिया है।

आज भारत सरकार की “डिजिटल भारत भूमि रिकॉर्ड्स” (DILRMP) योजना और MP Bhulekh, Bhunaksha, e-Seva जैसी पोर्टलों ने गाँव के हर व्यक्ति को यह सुविधा दी है कि वह अपने मोबाइल पर अपनी ज़मीन का नक्शा, खसरा, खतौनी और रिकॉर्ड देख सके। MP Bhunaksha पर कोई भी व्यक्ति अपनी जमीन का सीमांकन नक्शा (Field Map) देख सकता है, उसे डाउनलोड कर सकता है, और प्रिंट लेकर पंचायत में रख सकता है।

अब जरूरत है कि ग्राम सभा खुद आगे आए और सीमांकन की प्रक्रिया सार्वजनिक रूप से, कैमरे के सामने, ग्राम पंचायत में करवाए। मोबाइल पर उपलब्ध ऐप्स जैसे 'mLand Records', 'MP किसान App', या Geo-referenced Cadastral Maps अब हर पंचायत सचिव के पास होने चाहिए। जब सब कुछ रिकॉर्डेड हो, जब सीमांकन लाइव हो – तो न तो पटवारी गलत कर सकेगा, न ही दबंग अपना प्रभाव डाल पाएगा।

यदि ग्राम सभा यह तय कर ले कि “अब बिना पंचायत की निगरानी के कोई सीमांकन नहीं होगा”, तो न पटवारी अकेले जाकर मनमर्जी करेगा, न कोई पक्षपात होगा।

गाँव के युवक, जो मोबाइल और ऐप्स के जानकार हैं, उन्हें "सीमांकन साक्षरता अभियान" का हिस्सा बनाना चाहिए। वे लोगों को बताएँ कि कैसे e-KYC से ज़मीन के मालिकाना हक़ का सत्यापन किया जा सकता है, कैसे

डिजिटल साइन और आधार लिंक के ज़रिए ज़मीन सुरक्षित हो सकती है, और कैसे ऑनलाइन सीमांकन के लिए आवेदन किया जा सकता है। आज ज़रूरत है कि हर पंचायत में एक डिजिटल सहायता केंद्र हो – जहाँ बुजुर्ग, अनपढ़, महिलाएँ या दलित समुदाय के लोग आकर अपनी ज़मीन के अधिकारों के बारे में जानकारी पा सकें।

गाँव की अदालत तभी बनेगी जब वह तकनीक और पारदर्शिता को अपनाएगी। अब समय आ गया है कि ग्राम सभा के मंच पर ही सीमांकन हो, पंचायत सचिव, दोनों पक्ष, पटवारी, और गाँव के पाँच निष्पक्ष बुज़ुर्ग युवा मिलकर कैमरे के सामने, नक्शे के आधार पर सीमांकन तय करें। यदि कोई पक्ष आपत्ति करता है, तो उसे वीडियो गवाही के रूप में रिकॉर्ड किया जाए और तहसील भेजा जाए। इससे हर सीमांकन की प्रक्रिया कानूनन प्रमाणिक होगी और भ्रष्टाचार की गुंजाइश बहुत कम हो जाएगी।

आज जब 5G इंटरनेट हर गाँव तक पहुँच गया है, डिजिटल साक्षरता बढ़ी है, तो हमें पटवारी-प्रधान की गुपचुप मीटिंग नहीं, बल्कि जनता की निगरानी में पारदर्शी सीमांकन प्रक्रिया चाहिए। जब गाँव का हर व्यक्ति अपनी ज़मीन के नक्शे, खसरे, सीमांकन का अधिकार और तरीका खुद जान लेगा, तो कोई भी अधिकारी या दबंग उसे लूट नहीं पाएगा।

गाँव की अदालत को अब पुराने नियमों से नहीं, नई तकनीक और नई सोच से चलना होगा — तभी गरीब भी अपनी ज़मीन की हिफ़ाज़त कर पाएगा,

और अन्याय का डर खत्म होगा। सीमांकन अब अदालत का मुद्दा न बनकर गाँव का निर्णय बनना चाहिए — तभी असली न्याय होगा।

“जाति, पक्षपात और पंचायत की राजनीति – न्याय कहाँ से आए?”

गाँवों में न्याय की लड़ाई सिर्फ सच और झूठ की नहीं होती — यह लड़ाई वहाँ के जातीय ढाँचे, सामाजिक दबदबे और राजनीतिक पकड़ के बीच लड़ी जाती है। भारत का गाँव आज भी उस सामाजिक संरचना से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ है जहाँ ऊँची जातियों का बोलबाला होता है, और नीची जातियों को सिर्फ भीड़ में खड़ा रहने की इजाज़त मिलती है। जब पंचायत सभाएँ बैठती हैं, तो वहाँ निर्णय सिर्फ तथ्यों और कागज़ों के आधार पर नहीं, बल्कि ये देखकर लिया जाता है कि किसकी जाति ऊँची है, किसके घर से वोट ज़्यादा आते हैं, और कौन किसका खासा है।

बहुत से गाँवों में पंचायत का चेहरा भले ही चुनाव से बना हो, लेकिन हकीकत में उसे चलाते वही लोग हैं जो गाँव के ‘स्थायी प्रभावशाली’ होते हैं — वे या तो बड़े ज़मींदार होते हैं, या किसी राजनीतिक दल से जुड़े हुए लोग, या फिर वही जो पीढ़ियों से गाँव की सत्ता को अपने हाथों में रखते आए रूढ़िवादी हों। चुनाव में चाहे कोई भी जीत जाए, लेकिन पंचायत के निर्णय उन्हीं लोगों की सहमति से लिए जाते हैं जो गाँव की परछाई बनकर सब पर हावी रहते हैं। यदि पंचायत में दलित, पिछड़े या गरीब वर्ग का कोई सदस्य बोलना भी चाहे, तो उसे या तो चुप करा दिया जाता है, या फिर उसकी बात

को "अपरिपक्व", "बेवजह" और "झगड़ा बढ़ाने वाली" कहकर ख़ारिज कर दिया जाता है।

जैसे ही कोई विवाद होता है — जैसे ज़मीन का बँटवारा, कोई जातीय टिप्पणी, या घरेलू हिंसा का मामला — तो पंचायत बैठती ज़रूर है, लेकिन उसकी कार्यप्रणाली ऐसी होती है कि निर्णय पहले तय हो चुका होता है। अमूमन यह देखा गया है कि ऊँची जाति या दबंग परिवार के पक्ष में पंचायत का झुकाव होता है। कई बार तो पीड़ित परिवार पंचायत में जाने से भी डरता है, क्योंकि उन्हें पता होता है कि "यहाँ हमें नहीं सुना जाएगा", और इसी वजह से वह सीधे कोर्ट या थाने का रास्ता चुनता है।

जाति के आधार पर होने वाले यह निर्णय सिर्फ अन्याय नहीं हैं, बल्कि गाँव के ताने-बाने को दीमक की तरह खोखला कर रहे हैं। जब लोग देखते हैं कि एक ही पंचायत में एक तरफ की बहू को "गाँव की इज्ज़त" कहा जाता है, और दूसरी तरफ की बहू को "पराई जाति की" कहकर ज़लील किया जाता है — तो समाज का भरोसा टूट जाता है। जब पंचायत किसी ब्राह्मण या ठाकुर के बेटे को कहती है कि "गलती हो गई, आगे से नहीं करेगा", लेकिन किसी दलित के बेटे को उसी गलती पर "सड़कछाप", "बदमाश" और "गाँव से निकाल दो" कह देती है — तो ये निर्णय नहीं, घाव होते हैं।

यह जातीय पक्षपात आज भी पंचायतों में मौन रूप से व्याप्त है। भले ही संविधान सबको बराबर अधिकार देता हो, लेकिन गाँव के निर्णय अब भी

जातीय चश्मे से देखे जाते हैं। ये भेदभाव न केवल फैसलों में दिखता है, बल्कि ग्राम सभा की बैठकों में, सरकारी योजनाओं के बँटवारे में और पंचों के चयन में भी दिखता है। पंचायत में बैठे कुछ बुज़ुर्ग आज भी यह मानते हैं कि "बड़ी जाति वालों को फैसले लेने का हक़ है, बाकी तो सुनने के लिए हैं।" यही सोच गाँव की न्याय व्यवस्था को बर्बाद कर रही है।

अब जरूरत है पंचायतों में सामाजिक विविधता को प्रतिनिधित्व में बदलने की। सिर्फ आरक्षण से नहीं, बल्कि असली भागीदारी से — पंचायत में हर जाति, हर वर्ग, हर लिंग की बात सुनी जाए और मान्यता दी जाए। सिर्फ उम्र या दबदबे के आधार पर निर्णय न हों, बल्कि तर्क, प्रमाण और कानून के आधार पर हों। आज जब तकनीक ने हम सबको जोड़ दिया है, तो क्यों न पंचायतों में भी एक निष्पक्ष समीक्षा प्रणाली हो — हर निर्णय कैमरे पर रिकॉर्ड हो, ऑनलाइन दस्तावेज़ तैयार हों, और गाँव का हर व्यक्ति देख सके कि क्या हुआ और क्यों हुआ।

पंचायत राजनीति का मैदान नहीं, न्याय का मंदिर बने — यह सोच जरूरी है। जब तक पंचायत में जाति और धन का बोलबाला रहेगा, तब तक सच्चे न्याय की कोई उम्मीद नहीं की जा सकती। पंचायत सदस्य को चुनाव जीतने के बाद सिर्फ अपने समाज का नहीं, पूरे गाँव का प्रतिनिधि बनना होगा। पंचायत को एक ऐसी संस्था बनाना होगा जहाँ कोई भी — चाहे वह किसी भी जाति का हो — बिना डर के अपनी बात कह सके और उसे बराबर सम्मान मिले।

आज जरूरत है गाँव में पंचायत जागरूकता अभियान चलाने की — जिससे लोग समझें कि पंचायत का निर्णय कोई पवित्र ग्रंथ नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया का हिस्सा है जिसे बदला जा सकता है, रोका जा सकता है, और सवाल किया जा सकता है। जब गाँव का हर आदमी यह समझ जाएगा कि पंचायत में उसका भी उतना ही अधिकार है जितना किसी प्रधान या बुजुर्ग का, तभी जातीय भेदभाव की दीवारें गिरेंगी।

गाँव की अदालत जात-पात से ऊपर उठकर काम करे — यही इस युग की सच्ची ज़रूरत है। और यह तभी होगा जब पंचायतों में साहस, ईमानदारी और संवेदनशीलता के साथ न्याय किया जाएगा। नहीं तो हर पंचायत बैठक एक मज़ाक बनकर रह जाएगी, जहाँ न फैसले में विश्वास होगा, न फैसले के बाद शांति।

"न्याय की उम्मीद – नई पंचायत, नया गाँव"

गाँव की चौपाल कभी न्याय का मंदिर होती थी, जहाँ सब मिलकर सुलह करते थे, बड़े बुज़ुर्ग निर्णय देते थे और बात वही खत्म हो जाती थी। लेकिन समय के साथ ये व्यवस्था कमजोर हो गई, और आज गाँव की पंचायतें सिर्फ नाम की रह गई हैं। न्याय अब कोर्ट और कचहरी के रास्तों पर भटकने लगा है, जहाँ न वक़्त की कीमत है, न गरीब की सुनी जाती है। मगर इसके बीच एक उम्मीद बची हुई है – कि यदि हम चाहें, तो गाँव की पंचायत को फिर से न्याय का केंद्र बना सकते हैं, जहाँ तकनीक, पारदर्शिता और बराबरी के साथ

निर्णय हो।

गाँव की अदालत तभी बनेगी जब उसमें कुछ बुनियादी बदलाव लाए जाएँ। पहला बदलाव होना चाहिए – ग्राम सभा की ताक़त को पहचानना और उसे पुनर्जीवित करना। ग्राम सभा को अब सिर्फ मुहर लगाने वाली संस्था नहीं, बल्कि निर्णय लेने वाला मंच बनाया जाए। हर विवाद, हर शिकायत पहले ग्राम सभा के सामने रखी जाए, कैमरे के सामने, रजिस्टर में दर्ज कर, दस्तावेज़ों के साथ। फिर उस पर विचार हो – गाँव के बुजुर्ग, पढ़े-लिखे युवा, महिलाएं और सभी वर्गों के लोग मिलकर चर्चा करें और निष्पक्ष राय दें।

दूसरा बड़ा बदलाव है – डिजिटल पंचायत का निर्माण। आज तकनीक हमारे मोबाइल में है, तो पंचायतों को भी डिजिटल बनाना ज़रूरी है। ज़मीन विवाद हो, सरकारी योजनाओं का बँटवारा हो, या कोई पारिवारिक झगड़ा – सभी पंचायत कार्यवाही रिकॉर्ड हो, वीडियो बनाए जाएँ, ऑनलाइन पंचायत पोर्टल पर उपलब्ध हों। हर फैसला दस्तावेज़ के रूप में लोगों को मिले और गाँव की दीवारों पर पंचायत निर्णय की कॉपी चिपकाई जाए, ताकि सब जान सकें कि क्या फैसला हुआ और क्यों।

तीसरी ज़रूरत है – न्याय में संवेदनशीलता और मानवीयता की। गाँव में कई झगड़े सिर्फ गलतफहमी या छोटे विवाद से पैदा होते हैं। इन मामलों में पंचायत का कर्तव्य होना चाहिए कि वह दोनों पक्षों को साथ बैठाकर बात करे, उन्हें समझाए और बीच का रास्ता निकाले। न कि एक पक्ष को डाँटकर

चुप करा दे और दूसरे का पक्ष ले ले। सच्चा निर्णय वह है जो लोगों को तोड़े नहीं, जोड़ दे।

चौथा बड़ा सुधार है – पंचायत सदस्यों की जवाबदेही। पंचायत सिर्फ निर्णय नहीं दे, वह अपने फैसलों के लिए जवाबदेह भी हो। अगर कोई पंचायत पक्षपात करती है, तो ग्राम सभा उसे हटाने का प्रस्ताव पारित कर सके। पंचायत सदस्य सिर्फ अपने समाज के नहीं, पूरे गाँव के सेवक बनें। इसके लिए पंचायतों का वार्षिक मूल्यांकन किया जाना चाहिए – कितने फैसले हुए, कितने विवाद सुलझे, कितनों ने अपील की – इन सबका रिकॉर्ड सार्वजनिक किया जाए।

अब सवाल उठता है – क्या ऐसा संभव है? क्या गांव का आम आदमी तकनीक को अपनाएगा? जवाब है – हाँ, अगर हम उन्हें साथ लेकर चलें। गाँव के युवाओं को प्रशिक्षित किया जाए – वे डिजिटल पंचायत के कार्यकर्ता बनें, सीमांकन प्रक्रिया सिखाएं, RTI के ज़रिए दस्तावेज़ मँगवाना सिखाएं, और लोगों को उनके हक़ समझाएँ। हर पंचायत में एक न्याय मित्र (Legal Volunteer) नियुक्त हो, जो गरीबों को कचहरी जाने से पहले पंचायत से न्याय दिलवाने की कोशिश करे।

और सबसे ज़रूरी – गाँव के लोग खुद उठें, खुद बदलाव करें। जो पंचायत भेदभाव करे, उसे हटाएँ। जो सदस्य सिर्फ जाति या पैसे के आधार पर बैठा हो, उसके खिलाफ ग्राम सभा में सवाल उठाएँ। संविधान ने हर नागरिक को

बराबरी का अधिकार दिया है, अब हमें उस अधिकार को अपने गाँव की चौपाल तक ले जाना होगा।

जहाँ अदालतों में सालों लगते हैं, वहाँ पंचायत अगर ईमानदार हो तो हफ्तों में समाधान दे सकती है। जब गाँव में हर आदमी को लगे कि उसे बिना पैसे, बिना जाति पूछे न्याय मिलेगा, तो वह पंचायत की ओर लौटेगा। जब पंचायत डिजिटल होगी, पारदर्शी होगी, और सबकी होगी – तब वह सच में "गाँव की अदालत" कहलाएगी।

इस बदलाव की शुरुआत आज के एक छोटे कदम से हो सकती है – अगली बार जब कोई विवाद हो, तो कोर्ट जाने से पहले गाँव के बीच में बैठकर, दस्तावेज़ लेकर, पंचायत को बुलाकर, न्याय माँगिए। और अगर पंचायत पक्षपाती निकले, तो उसे बदल दीजिए – यही लोकतंत्र है, यही संविधान है, और यही न्याय है।

"गाँव की अदालत" अब फिर से ज़िंदा हो सकती है – अगर गाँव का हर आदमी न्याय की जिम्मेदारी उठाए और अन्याय के खिलाफ खड़ा हो। पंचायत सिर्फ बुजुर्गों की संस्था न हो, वह युवा सोच, महिला सम्मान और हर जाति की भागीदारी से बने – तभी गाँव न्याय का मंदिर बनेगा, और तभी भारत का असली लोकतंत्र गाँव की मिट्टी से जन्म लेगा।

सरकारी की चौखट बनाम गांव की चौपाल

गाँवों की ज़िंदगी बाहर से भले ही शांत और सरल दिखती हो, लेकिन इसके भीतर कई सामाजिक समस्याएं घर किए हुए हैं, जिनमें सबसे प्रमुख समस्या है ज़मीन के झगड़े। ज़मीन गाँव में ना सिर्फ एक संपत्ति है, बल्कि आत्मसम्मान और पहचान का आधार भी है, और जब-जब इस पर विवाद होता है, तो इसका असर पूरे गाँव के माहौल पर पड़ता है। ये झगड़े अक्सर रिश्तेदारों के बीच, भाइयों के बीच, या पड़ोसियों के बीच होते हैं, जहाँ बात इतनी छोटी होती है कि अगर सही समय पर हल कर दी जाए, तो विवाद की आग भड़कने ही न पाए, लेकिन अफ़सोस की बात ये है कि गाँव में ऐसे झगड़ों का कोई सस्ता, सरल और न्यायसंगत समाधान नहीं है। आम आदमी जब ऐसे मामलों में फँसता है, तो पहला रास्ता उसे पुलिस थाना नज़र आता है, जहाँ वह उम्मीद लेकर जाता है कि न्याय मिलेगा, लेकिन वहाँ जाकर उसे समझ आता है कि यह रास्ता और भी महँगा, थकाने वाला और भ्रष्ट है। पुलिस वाले अधिकतर मामलों में दोनों पक्षों से पैसे वसूलते हैं, उन्हें भड़काते हैं, और अंत में जब थक-हार कर दोनों पक्ष राजीनामा करते हैं, तब तक हजारों रुपये बर्बाद हो चुके होते हैं, और विवाद ज्यों का त्यों रह जाता है। इसमें दोष आम आदमी का नहीं है, क्योंकि उसके पास कोई और विकल्प

नहीं है, न ही कोई ऐसी पंचायत सभा है जिसपर वह आँख मूँदकर भरोसा कर सके। आज की पंचायतें अमीरों के पक्ष में और ग़रीबों के खिलाफ काम करती हैं। पंचायतों का काम गाँव के लोगों को सस्ता और तुरंत न्याय देना था, लेकिन आज वहाँ भी सिफारिश, रिश्वत और पक्षपात का बोलबाला है। जो ग़रीब होता है, जिसकी ज़मीन छीनी जा रही है, उसे पंचायत में नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है, और जिसके पास पैसा, रुतबा या राजनीतिक पकड़ है, उसका पक्ष लिया जाता है। इससे लोगों का पंचायत पर से विश्वास उठ गया है, और यही कारण है कि लोग छोटे-मोटे झगड़े लेकर सीधे पुलिस के पास जाते हैं, जहाँ उन्हें और ज़्यादा परेशानी झेलनी पड़ती है। गाँवों में आज भी बहुत सारे दबंग लोग मौजूद हैं जो ग़रीबों की ज़मीनें हड़पकर खुद को मालिक बताते हैं, सीमांकन नहीं होने देते, और अगर सीमांकन होता भी है, तो उसमें सरकारी कर्मचारी भी घूस लिए बिना काम नहीं करते। आज जबकि टेक्नोलॉजी इतनी आगे बढ़ चुकी है, हम ऑनलाइन सीमांकन कर सकते हैं, रिकॉर्ड देख सकते हैं, फिर भी आम आदमी को न्याय नहीं मिल रहा क्योंकि पंचायतें निष्पक्ष नहीं हैं। ज़रूरत है कि हम गाँव में एक ऐसी पंचायत सभा की व्यवस्था करें जो पूरी तरह निष्पक्ष हो, जहाँ ना केवल बुजुर्गों की बात का मान हो, बल्कि यदि कोई बच्चा भी तर्क से सही बात कहे, तो उसकी बात को भी महत्व दिया जाए। आजकल कई बुजुर्ग पंचायत में बैठे होते हैं जो खुद पक्षपाती होते हैं, वे या तो किसी के रिश्तेदार होते हैं या फिर दबाव में आकर फ़ैसले देते हैं। अगर हम गाँव की समस्याओं का सच्चा समाधान चाहते हैं, तो हमें ऐसी पंचायत सभा बनानी होगी जो कानून के आधार पर, बिना डर या लालच के, केवल सच्चाई के आधार पर फ़ैसला करे। ऐसी पंचायत में सभी पक्षों को बराबर सुना जाए, महिला हो या पुरुष, बूढ़ा हो या बच्चा, ग़रीब हो या अमीर – सभी को एक समान न्याय मिले। जब तक ऐसी व्यवस्था नहीं बनती, तब तक गाँवों की हालत नहीं सुधरेगी। हमें यह भी समझना होगा कि सरकारी कर्मचारी, जैसे पटवारी, कानूनगो या

तहसीलदार, तभी बीच में आएं जब पंचायत कोई समाधान न निकाल पाए। उन्हें पहला नहीं, अंतिम विकल्प बनाया जाए, ताकि पंचायत की ताकत और ज़िम्मेदारी दोनों बढ़े। अगर पंचायत काम नहीं करती, या गलत फ़ैसले देती है, तो उस पंचायत को जवाबदेह बनाया जाए। गाँव में न्याय तभी सस्ता, जल्दी और निष्पक्ष होगा, जब पंचायतों को ईमानदार और सक्षम लोगों से भरा जाए, ना कि केवल उम्र या दबदबे के आधार पर चुनकर। एक सही पंचायत सभा ना केवल न्याय करेगी, बल्कि लोगों को पुलिस और कोर्ट के झंझटों से भी बचाएगी। आज जो हालत है, उसमें गाँव का आम आदमी एक मामूली ज़मीनी विवाद में अपनी सारी जमा-पूंजी खर्च कर देता है, रिश्तेदारों से दुश्मनी मोल लेता है, और फिर भी उसे समाधान नहीं मिलता। ये सिलसिला तब तक चलता रहेगा जब तक हम खुद आगे बढ़कर पंचायत को सशक्त नहीं बनाएंगे, उसे शिक्षित और जवाबदेह नहीं बनाएंगे। हमारे गाँवों की दशा तभी बदलेगी जब न्याय घर के आँगन में मिलेगा, जब पंचायत को देखकर हर पक्ष को लगे कि यहाँ से मुझे सच्चा निर्णय मिलेगा, और जब किसी ग़रीब को यह न लगे कि वह हार गया क्योंकि वह ग़रीब था। हमें अपने सिस्टम पर भरोसा तभी होगा जब सिस्टम भरोसे के लायक बनेगा, और ये तभी संभव है जब हम गांव की अदालत को सचमुच “न्याय का मंदिर” बनाएँ। पंचायतों को डर और पक्षपात से बाहर निकलकर साहसी और सच्चे फ़ैसले लेने होंगे, और जब एक बार ऐसा होने लगेगा, तो गाँव की तस्वीर बदलने में देर नहीं लगेगी। गाँव के लोग एक बार फिर खुद को सुरक्षित और सम्मानित महसूस करेंगे, और तब हमें पुलिस और कोर्ट के चक्कर नहीं काटने पड़ेंगे, क्योंकि न्याय हमें अपने गाँव में ही मिलेगा।

देश की व्यवस्था में जिम्मेवार कौन

भारत की कमजोरी के लिए केवल नेताओं को दोष देना एक सरल लेकिन अधूरी सोच है; असली जिम्मेदारी हम नागरिकों की है, जो हर रोज अन्याय, भ्रष्टाचार और सामाजिक बुराइयों को देखते हुए भी चुप और निष्क्रिय रहते हैं, इस मानसिकता को लेख गहराई से उजागर करता है। हमारी चुप्पी, जो डर, सामाजिक दबाव और व्यक्तिगत स्वार्थ से उपजती है, भ्रष्टाचार को "चालाकी" और झूठ को "समझदारी" मानने की संस्कृति को बढ़ावा देती है, जिससे समाज में नैतिक पतन होता है; उदाहरणस्वरूप, जब कोई सरकारी अधिकारी रिश्वत लेता है, तो हम उसे "काम निकालने वाला" समझकर चुप रहते हैं, जो व्यवस्था को और कमजोर करता है। यह निष्क्रियता हमारी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से उत्पन्न होती है, जहां सदियों के विदेशी शासन और सामाजिक पदानुक्रम ने हमें "चुप रहने" और "सिस्टम से न टकराने" की आदत डाली; आज भी हम बच्चों को "बड़ों का कहा मानो" या "नेताओं से पंगा मत लो" सिखाते हैं, जिससे वे सवाल उठाने के बजाय अनैतिकता को स्वीकार करते हैं। हमारी सामाजिक संरचना में जाति, धर्म और क्षेत्र के आधार पर बंटवारा हमें एकजुट होने से रोकता है, जिसके परिणामस्वरूप कोई सामूहिक आंदोलन नहीं बन पाता; मिसाल के तौर पर, जब गांव में

सरपंच सरकारी फंड का दुरुपयोग करता है, तो लोग डर या जातिगत निष्ठा के कारण चुप रहते हैं। यह चुप्पी सामाजिक विश्वास को तोड़ती है, क्योंकि लोग सोचते हैं कि "कुछ भी करो, कुछ नहीं बदलेगा," जिससे एक दुष्चक्र बनता है—निष्क्रियता अविश्वास को जन्म देती है, और अविश्वास और निष्क्रियता को। हम जानते हैं कि हमारे पास संविधान, कानून, वोट और RTI जैसे अधिकार हैं, लेकिन इनका उपयोग न करने की वजह से हम "मजबूर" नहीं, बल्कि "कायर" बन जाते हैं; उदाहरण के लिए, 2012 के निर्भया कांड के बाद समाज सड़कों पर उतरा, लेकिन उस मानसिकता को बदलने की कोशिश नहीं की, जिसके कारण ऐसी घटनाएं बार-बार होती हैं। हमारी निष्क्रियता भ्रष्ट नेताओं को सत्ता में लाती है, क्योंकि हम ही उन्हें वोट देते हैं—चाहे वह शराब, पैसे या जाति-धर्म के नाम पर हो—और फिर उनके शोषण को सहते हैं; लेख कहता है, "कोई भ्रष्ट नेता रातों-रात सत्ता में नहीं आता, वो हमीं में से कोई होता है।" यह निष्क्रियता शिक्षा और जागरूकता की कमी से भी बढ़ती है, क्योंकि हमने अपने बच्चों को साहस, विवेक और आत्मसम्मान के बजाय "सिस्टम में घुसकर लूटने" की मानसिकता सिखाई है। हमारी चुप्पी का एक और उदाहरण है सामाजिक अन्याय को नजरअंदाज करना, जैसे जब गांव में किसी लड़की के साथ बलात्कार होता है, तो हम दोषी को सजा दिलाने के बजाय पीड़िता के चरित्र पर सवाल उठाते हैं, जिससे अपराधियों का हौसला बढ़ता है। हम पंचायतों को "मंदिर" बना देते हैं, जहां सरपंच और सचिव मनमानी करते हैं, और कोई गरीब सवाल उठाए तो उसे समाज "पागल" या "दुश्मन" कहकर बाहर कर देता है; यह हमारी "लोकतांत्रिक संस्कृति" की विडंबना है। चुप्पी और निष्क्रियता के परिणामस्वरूप समाज में भ्रष्टाचार, असमानता और हिंसा बढ़ती है, और हमारा देश कमजोर होता है; उदाहरण के लिए, भारत में हर साल अरबों रुपये का भ्रष्टाचार होता है, लेकिन कितने लोग RTI डालकर सवाल करते हैं? हमें उन लोगों से प्रेरणा लेनी चाहिए, जैसे अन्ना हजारे, जिन्होंने 2011 में भ्रष्टाचार

के खिलाफ आंदोलन चलाया, या मेधा पाटकर, जिन्होंने विस्थापितों के लिए लड़ाई लड़ी, यह दिखाते हुए कि एक व्यक्ति की आवाज भी बदलाव ला सकती है। चुप्पी तोड़ने के लिए हमें छोटे कदम उठाने होंगे—जैसे अपने गांव में स्कूल की खराब हालत पर सवाल करना, सोशल मीडिया पर अन्याय उजागर करना, या सामूहिक रुप से पंचायत की जवाबदेही तय करना। लेख का संदेश स्पष्ट है: "जब हम गलत के खिलाफ खड़े होंगे, तब ही ये देश खड़ा रहेगा।" हमें यह समझना होगा कि हमारी चुप्पी और निष्क्रियता न केवल हमें, बल्कि हमारी आने वाली पीढ़ियों को भी कमजोर करती है; यदि हम एक सशक्त भारत चाहते हैं, तो हमें अपनी मानसिकता बदलनी होगी, डर को त्यागना होगा, और एक जागरुक, साहसी नागरिक बनना होगा, क्योंकि बदलाव की शुरुआत हमसे ही होगी ।

भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक मानसिकता, जो सदियों से चली आ रही परंपराओं, सामाजिक पदानुक्रम, और रुढ़ियों से निर्मित हुई है, देश की कमजोरी का एक प्रमुख कारण है, क्योंकि यह हमें एकजुट होने, सवाल उठाने, और बदलाव लाने से रोकती है, जैसा कि लेख में उल्लेख किया गया है कि हमने "जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा, रिश्तेदारी और निजी लाभ का एक ऐसा जाल बुन लिया है, जिसमें हर सच्चाई, हर आंदोलन, हर विवेक फंसकर दम तोड़ देता है।" यह मानसिकता हमारी सामाजिक संरचना में गहराई से समाई हुई है, जहां हम "चुप रहना ही जीना है" की सोच को अपनाते हैं, जिसके कारण हम अन्याय, भ्रष्टाचार, और सामाजिक बुराइयों को सहते हैं, बजाय उनके खिलाफ खड़े होने के; उदाहरण के लिए, जब किसी गांव में एक गरीब परिवार को सरकारी योजना का लाभ नहीं मिलता, तो हम उसे "उसकी किस्मत" मान लेते हैं, न कि सिस्टम की खामी को उजागर करते हैं। हमारी संस्कृति में "बड़ों का सम्मान" और "परंपराओं का पालन" करने की शिक्षा दी जाती है, लेकिन यह सम्मान अक्सर अंधविश्वास और गलत परंपराओं को

स्वीकार करने में बदल जाता है, जैसे कि मृत्युभोज जैसी प्रथाएं, जो गरीब परिवारों को कर्ज में डुबो देती हैं, फिर भी समाज इसे "सामाजिक रीत" के नाम पर बढ़ावा देता है। हमारी मानसिकता हमें व्यक्तिगत स्वार्थ की ओर ले जाती है, जहां हम केवल अपने परिवार, जाति, या समुदाय के बारे में सोचते हैं, न कि समग्र समाज के कल्याण के बारे में; उदाहरण के लिए, जब कोई दलित या गरीब परिवार प्रगति करता है, तो हमारी जलन और "इन्हें तो मुफ्त में सब कुछ मिल जाता है" जैसी टिप्पणियां हमारी संकीर्ण सोच को दर्शाती हैं। यह मानसिकता हमें एकजुट होने से रोकती है, क्योंकि हम जाति, धर्म, और क्षेत्र के आधार पर बंटे हुए हैं, जिसके कारण कोई भी सामाजिक आंदोलन व्यापक रूप नहीं ले पाता; मिसाल के तौर पर, जब किसी गांव में बलात्कार की घटना होती है, तो लोग पीड़िता की जाति या धर्म को देखकर चुप रहते हैं या उसका चरित्रहनन करते हैं, बजाय दोषी को सजा दिलाने के लिए एकजुट होने के। हमारी सांस्कृतिक मानसिकता में "लोकलाज" और "इज्जत" का डर इतना गहरा है कि हम गलत को गलत कहने से डरते हैं; उदाहरण के लिए, यदि कोई लड़की अपनी मर्जी से शादी करना चाहती है, तो उसे "बागी" या "चरित्रहीन" कहकर समाज बहिष्कृत कर देता है, क्योंकि हमारी संस्कृति में व्यक्तिगत स्वतंत्रता से ज्यादा सामाजिक मर्यादा को महत्व दिया जाता है। हमारी परंपराएं हमें सिखाती हैं कि "सिस्टम से मत टकराओ," जिसके कारण हम भ्रष्ट सरपंच, नाकारा अधिकारियों, या अन्याय करने वाले नेताओं से सवाल नहीं करते; यह मानसिकता हमें RTI जैसे अधिकारों का उपयोग करने से रोकती है, क्योंकि हमें लगता है कि "यह तो चलता है" या "हम अकेले क्या कर सकते हैं?" हमारी सांस्कृतिक शिक्षा हमें साहस और विवेक के बजाय आज्ञाकारिता और निष्क्रियता सिखाती है, जिसके कारण हम अपने बच्चों को भी यही सिखाते हैं कि "पढ़ाई से क्या होगा?" या "आरक्षण ही सब कुछ है," बजाय उन्हें न्याय, समानता, और नागरिक जिम्मेदारी का पाठ पढ़ाने के। हमारी सामाजिक मानसिकता में गरीबों के

प्रति सहानुभूति दिखावटी है; हम उनके नाम पर रोते हैं, लेकिन जब कोई गरीब अंग्रेजी बोलता है या प्रगति करता है, तो हमारी जलन और असुरक्षा उजागर होती है, जो हमारी दोहरी मानसिकता को दर्शाता है। हमारी संस्कृति में मंदिर बनाने के लिए चंदा इकट्ठा करना आसान है, लेकिन किसी गरीब बच्ची की शादी या शिक्षा के लिए मदद करना मुश्किल, क्योंकि हमारी प्राथमिकताएं सामाजिक दिखावे और व्यक्तिगत लाभ तक सीमित हैं। हम भगत सिंह और गांधी की जयकार करते हैं, लेकिन उनके सिद्धांतों को अपनाने से कतराते हैं; उदाहरण के लिए, हम गांधी की मूर्ति पर फूल चढ़ाते हैं, लेकिन गरीब के साथ बैठकर खाना खाने में शर्मिंदगी महसूस करते हैं, जो हमारी खोखली राष्ट्रभक्ति को दर्शाता है। हमारी मानसिकता में यह गहरी धारणा है कि "जो जैसा है, वैसा ही रहेगा," जिसके कारण हम बदलाव की किसी भी संभावना को खारिज कर देते हैं; मिसाल के तौर पर, जब कोई युवा RTI डालकर भ्रष्टाचार उजागर करता है, तो समाज उसे "पागल" या "नेता बनने का शौकीन" कहकर हतोत्साहित करता है। यह मानसिकता हमारी लोकतांत्रिक संस्कृति को भी कमजोर करती है, क्योंकि हम पंचायतों को "मंदिर" और सरपंच को "भगवान" मानते हैं, जिसके कारण कोई गरीब सवाल उठाए तो पूरा समाज उसके खिलाफ खड़ा हो जाता है। हमारी सांस्कृतिक मानसिकता हमें यह सिखाती है कि व्यक्तिगत और सामुदायिक स्वार्थ से ऊपर उठना गलत है, जिसके कारण हम सामाजिक सुधारकों को "समाज से अलग" कहकर बाहर कर देते हैं; उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति गांव में शिक्षा या स्वच्छता जैसे मुद्दों पर काम करता है, तो उसे "बाहरी" या "असंस्कारी" कहकर खारिज कर दिया जाता है। यह मानसिकता हमारी शिक्षा प्रणाली में भी दिखती है, जहां हम बच्चों को डिग्री तो दिलाते हैं, लेकिन उन्हें सवाल करने, सत्य को समझने, या अधिकारों के प्रति जागरूक होने का पाठ नहीं पढ़ाते, जिसके परिणामस्वरुप हमारे शिक्षित लोग भी भ्रष्टाचार और जातिवाद में लिप्त रहते हैं। हमारी सांस्कृतिक

मानसिकता का एक और पहलू है हमारा दिखावटीपन; हम मंदिरों में दान देते हैं, भव्य आयोजन करते हैं, लेकिन गरीब की मदद करने में कंजूसी करते हैं, क्योंकि हमारी प्राथमिकताएं सामाजिक प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत लाभ तक सीमित हैं। यह मानसिकता हमें एक सशक्त समाज बनाने से रोकती है, क्योंकि हम न तो खुद आगे बढ़ना चाहते हैं, न ही दूसरों को बढ़ने देना चाहते हैं; उदाहरण के लिए, जब कोई दलित या पिछड़ा व्यक्ति सरकारी नौकरी पाता है, तो हम उसे "आरक्षण का फायदा उठाने वाला" कहकर नीचा दिखाते हैं, जो हमारी संकीर्ण सोच को दर्शाता है। हमारी सांस्कृतिक मानसिकता हमें यह भी सिखाती है कि "लड़ाई से बचो," जिसके कारण हम पुलिस, प्रशासन, या नेताओं से सवाल करने से डरते हैं; मिसाल के तौर पर, जब पुलिस किसी बलात्कारी को बचाती है, तो हम चुप रहते हैं, क्योंकि हमें लगता है कि "सिस्टम से टकराने का कोई फायदा नहीं।" इस मानसिकता को बदलने के लिए हमें अपनी परंपराओं और संस्कृति पर पुनर्विचार करना होगा; हमें यह समझना होगा कि परंपराएं तभी मूल्यवान हैं, जब वे समाज को प्रगति की ओर ले जाएं, न कि उसे जकड़ें। हमें अपने बच्चों को सिखाना होगा कि साहस, विवेक, और समानता ही सच्ची संस्कृति है, न कि अंधविश्वास या सामाजिक दबाव का पालन। हमें उन लोगों से प्रेरणा लेनी चाहिए जिन्होंने इस मानसिकता को तोड़ा, जैसे कि ज्योतिबा फुले, जिन्होंने जातिवाद और लैंगिक भेदभाव के खिलाफ लड़ाई लड़ी, या बाबासाहेब अंबेडकर, जिन्होंने संविधान के माध्यम से हमें समानता और न्याय का अधिकार दिया। हमें छोटे-छोटे कदम उठाने होंगे, जैसे कि अपने गांव में पंचायत की जवाबदेही तय करना, सामाजिक रीतियों पर सवाल उठाना, या अपने बच्चों को साहस और जागरूकता सिखाना। लेख का संदेश स्पष्ट है: "जब हम अपने विवेक को जगाएंगे, तब ही देश प्रगति करेगा।" हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक मानसिकता को बदलना आसान नहीं है, लेकिन यह असंभव भी नहीं; यदि हम अपनी सोच को व्यक्तिगत स्वार्थ और

सामाजिक दबाव से ऊपर उठाकर समग्र समाज के कल्याण की ओर ले जाएं, तो हम एक सशक्त और एकजुट भारत का निर्माण कर सकते हैं, क्योंकि बदलाव की शुरुआत हमारी मानसिकता से ही होगी।

भारत की प्रगति और सशक्तिकरण में शिक्षा और नैतिकता की भूमिका सर्वोपरि है, लेकिन लेख में उल्लिखित हमारी शिक्षा प्रणाली और नैतिक मूल्यों का पतन देश को कमजोर करने का एक प्रमुख कारण है, क्योंकि हमने शिक्षा को केवल डिग्री और नौकरी तक सीमित कर दिया है, न कि इसे विवेक, साहस, और सामाजिक जिम्मेदारी का साधन बनाया, जैसा कि लेख कहता है, "हम शिक्षित होकर भी मूर्ख हैं, क्योंकि हमने ज्ञान को विवेक से नहीं जोड़ा।" हमारी शिक्षा प्रणाली बच्चों को सवाल पूछने, सत्य को समझने, और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने के बजाय रटने और प्रतियोगी परीक्षाओं में टॉप करने की दौड़ में शामिल करती है; उदाहरण के लिए, लाखों युवा कोचिंग सेंटरों में IAS या सरकारी नौकरी की तैयारी करते हैं, लेकिन कितने लोग यह सोचते हैं कि इन नौकरियों के माध्यम से वे समाज को कैसे बेहतर बनाएंगे? हमारी शिक्षा हमें "जॉब लग जाए" या "IAS बन जाए" की मानसिकता देती है, लेकिन यह नहीं सिखाती कि एक जागरूक नागरिक बनना क्या होता है, जिसके परिणामस्वरूप हमारे शिक्षित लोग भी भ्रष्टाचार, जातिवाद, और अन्याय में लिप्त रहते हैं; मिसाल के तौर पर, कई IAS अधिकारी और शिक्षक भ्रष्टाचार में शामिल पाए जाते हैं, जो दर्शाता है कि शिक्षा ने उन्हें नैतिकता या सामाजिक जिम्मेदारी नहीं सिखाई। हमने अपने बच्चों को यह नहीं सिखाया कि न्याय, समानता, और आत्मसम्मान क्या हैं; इसके बजाय, हम उन्हें "सिस्टम से मत टकराओ" और "बड़े का कहा मानो" जैसे पाठ पढ़ाते हैं, जिससे वे निष्क्रिय और आज्ञाकारी बन जाते हैं। हमारी सांस्कृतिक मानसिकता भी इस पतन को बढ़ावा देती है, क्योंकि हम बच्चों को साहस और विवेक के बजाय सामाजिक मर्यादाओं और परंपराओं

का पालन करना सिखाते हैं; उदाहरण के लिए, हम अपने बेटों को यह नहीं सिखाते कि लड़कियों का सम्मान कैसे करना है, बल्कि उन्हें "तू ठाकुर है, तू ब्राह्मण है, तू यादव है" जैसे जातिगत अभिमान में डुबो देते हैं, जो उनके नैतिक पतन की शुरुआत बनता है। हमारी बेटियों को भी हम स्वतंत्रता और आत्मविश्वास के बजाय "मर्यादा" की बेड़ियां पहनाते हैं, और जब कोई लड़की अपने अधिकारों की बात करती है, तो उसे "चरित्रहीन" या "बागी" कहकर चुप करा दिया जाता है, जो हमारी पितृसत्तात्मक और दमनकारी शिक्षा प्रणाली को दर्शाता है। हमारी शिक्षा प्रणाली में नैतिकता का अभाव इस हद तक है कि हम बच्चों को यह नहीं सिखाते कि भ्रष्टाचार गलत है या अन्याय के खिलाफ आवाज उठाना जरूरी है; इसके बजाय, हम उन्हें "चालाकी" और "समझदारी" के नाम पर भ्रष्ट सिस्टम का हिस्सा बनने के लिए तैयार करते हैं। स्कूलों में नैतिक शिक्षा के नाम पर केवल किताबी ज्ञान दिया जाता है, लेकिन यह बच्चों को वास्तविक जीवन में नैतिकता लागू करने के लिए प्रेरित नहीं करता; उदाहरण के लिए, बच्चे भले ही किताबों में गांधी के सत्य और अहिंसा के सिद्धांत पढ़ लें, लेकिन जब वे भ्रष्टाचार या अन्याय देखते हैं, तो चुप रहना ही चुनते हैं, क्योंकि उनकी शिक्षा ने उन्हें साहस नहीं सिखाया। हमारी शिक्षा प्रणाली सामाजिक जिम्मेदारी के प्रति भी उदासीन है; स्कूल और कॉलेज केवल अंकों और डिग्रियों पर ध्यान देते हैं, न कि सामुदायिक सेवा या सामाजिक बदलाव पर, जिसके कारण हमारे युवा केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए पढ़ते हैं, न कि समाज के कल्याण के लिए। इस पतन का एक और पहलू है हमारी सामाजिक मानसिकता, जो शिक्षा को केवल "नौकरी पाने" का साधन मानती है, न कि समाज को बदलने का हथियार; उदाहरण के लिए, जब कोई युवा सामाजिक कार्यकर्ता बनना चाहता है, तो उसे परिवार और समाज "पागल" या "बेकार" कहकर हतोत्साहित करता है, क्योंकि हमारी संस्कृति में सामाजिक सेवा को सम्मान की बजाय समय की बर्बादी माना जाता है। हमारी शिक्षा प्रणाली में लैंगिक

समानता और सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों पर भी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता; स्कूलों में लड़कियों को नेतृत्व या स्वतंत्रता के लिए प्रोत्साहित करने के बजाय उन्हें “सभ्य” और “संस्कारी” बनने की शिक्षा दी जाती है, जो उनकी क्षमताओं को सीमित करता है। इसी तरह, जातिगत और धार्मिक भेदभाव को खत्म करने के लिए शिक्षा में कोई ठोस कदम नहीं उठाए जाते, जिसके कारण हमारे बच्चे वही संकीर्ण मानसिकता अपनाते हैं जो उनके माता-पिता की थी। हमारी शिक्षा प्रणाली का यह पतन केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी देश को कमजोर करता है, क्योंकि यह हमें ऐसे नागरिक देती है जो शिक्षित तो हैं, लेकिन नैतिक रूप से खोखले हैं; उदाहरण के लिए, हमारे शिक्षित पुलिस अधिकारी बलात्कारियों को बचाते हैं, हर अधिकारी घूस लेते हैं, और जनप्रतिनिधि गुंडों से डरते हैं, क्योंकि उनकी शिक्षा ने उन्हें नैतिक साहस नहीं दिया। हमारी सांस्कृतिक मानसिकता भी इस पतन को बढ़ावा देती है, क्योंकि हम “पढ़ाई से क्या होगा?” या “आरक्षण ही सब कुछ है” जैसे विचारों को बढ़ावा देते हैं, जिससे युवा अपनी शिक्षा को सामाजिक बदलाव के साधन के रूप में देखने के बजाय केवल व्यक्तिगत लाभ का जरिया मानते हैं। इस पतन का एक और परिणाम है हमारा दिखावटीपन; हम अपने बच्चों को डिग्री तो दिलाते हैं, लेकिन उन्हें यह नहीं सिखाते कि संविधान क्या है, उनके अधिकार क्या हैं, या समाज के प्रति उनकी जिम्मेदारी क्या है, जिसके कारण वे भगत सिंह की जयकार तो करते हैं, लेकिन उनके जैसे साहस और बलिदान की भावना को नहीं अपनाते। हमें यह समझना होगा कि शिक्षा का उद्देश्य केवल नौकरी पाना नहीं, बल्कि एक जागरुक, साहसी, और नैतिक नागरिक बनाना है; हमें अपनी शिक्षा प्रणाली में सुधार करना होगा, जिसमें नैतिकता, सामाजिक जिम्मेदारी, और लैंगिक समानता जैसे विषयों को शामिल किया जाए। हमें बच्चों को यह सिखाना होगा कि सवाल करना, अन्याय के खिलाफ खड़ा होना, और समाज के लिए योगदान देना ही सच्ची शिक्षा है; उदाहरण के

लिए, यदि हम बच्चों को RTI का उपयोग करना, सामुदायिक सेवा में भाग लेना, या सामाजिक मुद्दों पर चर्चा करना सिखाएं, तो वे न केवल अपने लिए, बल्कि समाज के लिए भी बदलाव ला सकते हैं। हमें उन लोगों से प्रेरणा लेनी चाहिए जिन्होंने शिक्षा और नैतिकता को समाज के कल्याण के लिए इस्तेमाल किया, जैसे कि सावित्रीबाई फुले, जिन्होंने लड़कियों की शिक्षा के लिए लड़ाई लड़ी, या बाबासाहेब अंबेडकर, जिन्होंने शिक्षा को सामाजिक न्याय का हथियार बनाया। हमें अपनी सांस्कृतिक मानसिकता को भी बदलना होगा, जो हमें "चुप रहने" और "सिस्टम से न टकराने" की सलाह देती है; इसके बजाय, हमें अपने बच्चों को साहस, विवेक, और आत्मसम्मान सिखाना होगा, ताकि वे एक सशक्त और न्यायपूर्ण समाज का निर्माण कर सकें। लेख का संदेश स्पष्ट है: "जब हम अपने बच्चों को साहसी, ईमानदार, और जागरूक नागरिक बनाएंगे, तब ही भारत सशक्त होगा।" शिक्षा और नैतिकता का पतन हमारी सबसे बड़ी कमजोरी है, लेकिन इसे सुधारना असंभव नहीं है; हमें अपनी शिक्षा प्रणाली को पुनर्जनन करना होगा, ताकि यह केवल डिग्रियां न दे, बल्कि नैतिकता, साहस, और सामाजिक जिम्मेदारी से लैस नागरिक तैयार करे, क्योंकि यही वह आधार है जिस पर एक सशक्त भारत का निर्माण हो सकता है।

भारत की सामाजिक संरचना में जाति, धर्म, और क्षेत्रीयता आधारित विभाजनकारी सोच देश को कमजोर करने का एक गहरा और जटिल कारण है, क्योंकि यह हमें एकजुट होने, सामाजिक न्याय के लिए लड़ने, और समग्र प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने से रोकती है, जैसा कि लेख में कहा गया है, "हमने अपने भीतर जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा, रिश्तेदारी और निजी लाभ का एक ऐसा जाल बुन लिया है, जिसमें हर सच्चाई, हर आंदोलन, हर विवेक फंसकर दम तोड़ देता है।" यह विभाजनकारी मानसिकता हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक जड़ों में गहरी समाई हुई है, जो हमें "हम" और "वे" की

श्रेणियों में बांटती है, जिसके परिणामस्वरूप हम सामूहिक हितों के बजाय व्यक्तिगत या सामुदायिक स्वार्थों को प्राथमिकता देते हैं; उदाहरण के लिए, जब किसी गांव में कोई सामाजिक मुद्दा उठता है, जैसे सरकारी फंड का दुरुपयोग, तो लोग जातिगत निष्ठा या धार्मिक पहचान के आधार पर बंट जाते हैं, और मुद्दे को दबा दिया जाता है। हमारी जातिगत मानसिकता हमें यह सिखाती है कि हमारी पहचान हमारी जाति—ठाकुर, जाट, ब्राह्मण, या यादव—से तय होती है, न कि हमारी मानवता या नागरिकता से, जिसके कारण हम अपने बच्चों को भी यही सिखाते हैं, जैसा कि लेख कहता है, "हमने अपने बेटे को ये नहीं सिखाया कि लड़की का सम्मान कैसे किया जाता है, लेकिन यह ज़रूर सिखाया कि 'तू ठाकुर है, तू यादव है'"; यह सोच न केवल सामाजिक एकता को तोड़ती है, बल्कि नैतिक पतन को भी बढ़ावा देती है, क्योंकि बच्चे बचपन से ही जातिगत अभिमान में डूब जाते हैं। धार्मिक विभाजन भी हमारी एकता को कमजोर करता है; हम मंदिर-मस्जिद जैसे मुद्दों पर बंट जाते हैं, और सामाजिक सुधार जैसे शिक्षा या स्वास्थ्य की बातें पीछे छूट जाती हैं, उदाहरण के लिए, जब कोई धार्मिक आयोजन होता है, तो लोग लाखों रुपये दान देते हैं, लेकिन गरीब की मदद के लिए कोई आगे नहीं आता, जो हमारी दिखावटी धार्मिकता को दर्शाता है। क्षेत्रीय और भाषाई विभाजन भी हमें एकजुट होने से रोकते हैं; उदाहरण के लिए, उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच, या हिंदी और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के बीच, अनावश्यक तनाव पैदा होता है, जो राष्ट्रीय एकता को कमजोर करता है। यह विभाजनकारी सोच हमें सामाजिक अन्याय को स्वीकार करने के लिए मजबूर करती है; जब किसी दलित या पिछड़े वर्ग के व्यक्ति को अन्याय का सामना करना पड़ता है, तो समाज उसकी जाति को देखकर चुप रहता है या उसे ही दोषी ठहराता है, जैसा कि लेख में कहा गया है, "जब कोई दलित परिवार ऊपर उठता है तो हम कहते हैं – 'इन्हें तो मुफ्त में सब कुछ मिल जाता है।'" हमारी यह मानसिकता आरक्षण जैसे सामाजिक न्याय के उपायों

को भी विवादास्पद बना देती है, क्योंकि हम इसे "हक" के बजाय "मुफ्त की सुविधा" मानते हैं, जिससे सामाजिक तनाव बढ़ता है। हमारी विभाजनकारी सोच का एक और पहलू है हमारा पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण, जो महिलाओं को दोयम दर्जा देता है; हम अपनी बेटियों को स्वतंत्रता और आत्मसम्मान के बजाय "मर्यादा" की बेड़ियां पहनाते हैं, और जब कोई लड़की अपने अधिकारों की मांग करती है, तो उसे "बेशर्म" या "बागी" कहकर दबा दिया जाता है, जो हमारी सामाजिक संरचना में गहरे लैंगिक भेदभाव को दर्शाता है। यह सोच हमें सामूहिक आंदोलनों से भी रोकती है; उदाहरण के लिए, 2011 के अन्ना हजारे के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन में शुरू में लाखों लोग शामिल हुए, लेकिन जाति और धर्म के आधार पर बंटवारे ने इसे कमजोर कर दिया, क्योंकि लोग अपने संकीर्ण हितों को प्राथमिकता देने लगे। हमारी विभाजनकारी मानसिकता हमें यह भी सिखाती है कि "अपने समुदाय" की रक्षा करना सबसे जरूरी है, जिसके कारण हम भ्रष्ट नेताओं को वोट देते हैं, अगर वे हमारी जाति या धर्म से हैं, जैसा कि लेख कहता है, "हम वही लोग हैं जो चुनाव से पहले चंद रुपयों, शराब या जाति-धर्म के नाम पर बिक जाते हैं।" यह सोच हमें सामाजिक जिम्मेदारी से दूर ले जाती है; उदाहरण के लिए, जब किसी गांव में बलात्कार की घटना होती है, तो लोग पीड़िता के चरित्र पर सवाल उठाते हैं, क्योंकि वह "हमारी जाति" की नहीं होती, जिससे अपराधियों का हौसला बढ़ता है। हमारी यह मानसिकता सामाजिक सुधारकों को भी हतोत्साहित करती है; जब कोई व्यक्ति भ्रष्टाचार या अन्याय के खिलाफ आवाज उठाता है, तो उसे "समाज विरोधी" या "समाज से अलग" कहकर बहिष्कृत कर दिया जाता है, क्योंकि वह हमारी जातिगत या धार्मिक एकता को चुनौती देता है। हमारी सांस्कृतिक परंपराएं भी इस विभाजन को बढ़ावा देती हैं; मृत्युभोज जैसी प्रथाएं, जो गरीब परिवारों को कर्ज में डुबो देती हैं, केवल सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए अपनाई जाती हैं, क्योंकि हम "समाज क्या कहेगा" के डर में जीते हैं। हमारी शिक्षा प्रणाली भी

इस विभाजनकारी सोच को खत्म करने में नाकाम रही है; स्कूलों में बच्चों को समानता और एकता सिखाने के बजाय, हम उन्हें जातिगत और धार्मिक पहचान में बांधते हैं, जिसके कारण वे बड़े होकर भी वही संकीर्ण मानसिकता अपनाते हैं। हमारी यह सोच हमें लोकतांत्रिक मूल्यों से भी दूर ले जाती है; हम पंचायतों को "मंदिर" और सरपंच को "भगवान" मानते हैं, और जब कोई गरीब उनके खिलाफ सवाल उठाता है, तो हम उसे "असंस्कारी" कहकर चुप करा देते हैं, जो हमारी तथाकथित "लोकतांत्रिक संस्कृति" की विडंबना है। हमें यह समझना होगा कि जाति, धर्म, और क्षेत्रीयता आधारित यह विभाजनकारी सोच हमें न केवल एक समाज के रूप में, बल्कि एक राष्ट्र के रूप में भी कमजोर करती है; यदि हम एक सशक्त भारत चाहते हैं, तो हमें इन जंजीरों को तोड़ना होगा। हमें उन लोगों से प्रेरणा लेनी चाहिए जिन्होंने इस सोच को चुनौती दी, जैसे कि ज्योतिबा फुले, जो जाति और लैंगिक भेदभाव के खिलाफ लड़े, या बाबासाहेब अंबेडकर, जिन्होंने संविधान के माध्यम से समानता का मार्ग प्रशस्त किया। हमें अपनी मानसिकता बदलनी होगी, अपने बच्चों को समानता, एकता, और सामाजिक न्याय सिखाना होगा, और छोटे-छोटे कदम उठाने होंगे, जैसे कि अपने गांव में जातिगत भेदभाव के खिलाफ बोलना, सामुदायिक एकता को बढ़ावा देना, या सामाजिक मुद्दों पर एकजुट होकर काम करना। हमें यह समझना होगा कि हमारी एकता ही हमारी ताकत है; यदि हम अपनी जाति, धर्म, और क्षेत्रीयता की दीवारों को तोड़कर एक राष्ट्र के रूप में सोचें, तो हम एक सशक्त और समृद्ध भारत का निर्माण कर सकते हैं। लेख का संदेश स्पष्ट है: "जब हम अपने विवेक को जगाएंगे, तब ही देश प्रगति करेगा।" यह बदलाव आसान नहीं है, लेकिन असंभव भी नहीं; हमें अपनी संकीर्ण मानसिकता को त्यागना होगा, सामाजिक एकता को अपनाना होगा, और अपने बच्चों को यह सिखाना होगा कि उनकी पहचान उनकी जाति या धर्म से नहीं, बल्कि उनकी मानवता और नागरिकता से तय होती है, क्योंकि यही वह आधार है

जिस पर एक सशक्त और एकजुट भारत खड़ा हो सकता है।

भारत को सशक्त और समृद्ध बनाने के लिए बदलाव की राह केवल नेताओं या सरकार के भरोसे नहीं चल सकती, बल्कि यह हमारी सामूहिक नागरिक जिम्मेदारी है, जो हमें अपनी चुप्पी तोड़ने, निष्क्रियता छोड़ने, और साहस व विवेक के साथ गलत के खिलाफ खड़े होने के लिए प्रेरित करती है, जैसा कि लेख में कहा गया है, "बदलाव नेता नहीं लाएगा – बदलाव हम लाएंगे।" हमारी निष्क्रियता, डर, और विभाजनकारी मानसिकता ने देश को कमजोर किया है, लेकिन यदि हम जागरूक और साहसी नागरिक बनें, तो कोई भी शक्ति हमें रोक नहीं सकती; लेख का यह संदेश कि "अगर हम जाग गए, तो इस देश को कोई हरा नहीं सकता" हमें प्रेरित करता है कि हम अपने भीतर की नैतिक शक्ति को पुनर्जनन करें और समाज को बदलने की दिशा में कदम उठाएं। बदलाव की शुरुआत छोटे-छोटे कदमों से हो सकती है, जैसे कि अपने गांव में भ्रष्टाचार के खिलाफ RTI दाखिल करना, स्कूल की खराब स्थिति पर सवाल उठाना, या सामाजिक अन्याय के खिलाफ सामूहिक रूप से आवाज बुलंद करना; उदाहरण के लिए, जब एक गांव में सरपंच सरकारी फंड का दुरुपयोग करता है, तो ग्रामीणों का एकजुट होकर उसकी जवाबदेही तय करना एक सशक्त कदम हो सकता है। हमें अपनी शिक्षा प्रणाली को भी बदलना होगा, ताकि यह बच्चों को केवल डिग्री न दे, बल्कि साहस, विवेक, और सामाजिक जिम्मेदारी सिखाए; हमें बच्चों को यह सिखाना होगा कि संविधान क्या है, उनके अधिकार क्या हैं, और एक जागरूक नागरिक की भूमिका क्या है, ताकि वे भविष्य में भ्रष्टाचार या अन्याय को "चालाकी" न मानें, बल्कि उसके खिलाफ खड़े हों। हमारी सांस्कृतिक मानसिकता को भी पुनर्जनन करना होगा, जो हमें "चुप रहना ही जीना है" सिखाती है; इसके बजाय, हमें अपने बच्चों को यह सिखाना होगा कि गलत के खिलाफ बोलना और समाज के लिए योगदान देना ही सच्ची संस्कृति है। हमें उन सामाजिक

रीतियों पर सवाल उठाना होगा जो अन्याय को बढ़ावा देती हैं, जैसे मृत्युभोज, जो गरीबों को कर्ज में डुबोता है, या जातिगत और लैंगिक भेदभाव, जो समाज को बांटता है; उदाहरण के लिए, यदि हम अपने गांव में मृत्युभोज की प्रथा को खत्म करने की पहल करें, तो यह न केवल गरीबों को आर्थिक बोझ से बचाएगा, बल्कि सामाजिक जागरूकता को भी बढ़ाएगा। हमें अपनी विभाजनकारी सोच को त्यागना होगा, जो हमें जाति, धर्म, और क्षेत्र के आधार पर बांटती है, और इसके बजाय एक राष्ट्रीय पहचान को अपनाना होगा; हमें यह समझना होगा कि हमारी ताकत हमारी एकता में है, जैसा कि स्वतंत्रता संग्राम में देखा गया, जब सभी जाति-धर्म के लोग एकजुट होकर अंग्रेजों के खिलाफ लड़े। हमें अपने बच्चों को साहस और आत्मसम्मान सिखाना होगा, ताकि वे न केवल अपने लिए, बल्कि समाज के लिए भी लड़ सकें; उदाहरण के लिए, हमें अपनी बेटियों को यह सिखाना होगा कि वे स्वतंत्र और सशक्त हैं, न कि केवल “मर्यादा” की बेड़ियों में बंधी हैं, और अपने बेटों को यह सिखाना होगा कि सम्मान और समानता ही सच्ची मर्दानगी है। हमें उन लोगों से प्रेरणा लेनी चाहिए जिन्होंने बदलाव लाया, जैसे बाबासाहेब अंबेडकर, जिन्होंने संविधान के माध्यम से समानता और न्याय का मार्ग दिखाया, या सावित्रीबाई फुले, जिन्होंने महिलाओं और दलितों की शिक्षा के लिए लड़ाई लड़ी; ये लोग हमें सिखाते हैं कि एक व्यक्ति की आवाज भी समाज को बदल सकती है, बशर्ते वह साहस और दृढ़ संकल्प के साथ उठे। हमें सामाजिक जिम्मेदारी को अपनाना होगा, जैसे कि अपने आसपास के गरीबों की मदद करना, सामुदायिक सेवा में भाग लेना, या सामाजिक मुद्दों पर चर्चा को बढ़ावा देना; उदाहरण के लिए, यदि हम अपने गांव में एक सामुदायिक पुस्तकालय शुरू करें या बच्चों के लिए मुफ्त शिक्षा कक्षाएं चलाएं, तो यह न केवल शिक्षा को बढ़ावा देगा, बल्कि सामाजिक एकता को भी मजबूत करेगा। हमें यह भी समझना होगा कि लोकतंत्र केवल वोट देने तक सीमित नहीं है; यह हमारी सक्रिय भागीदारी मांगता है, जैसे कि

पंचायत की बैठकों में शामिल होना, सरकारी योजनाओं की निगरानी करना, या प्रेस और सोशल मीडिया के माध्यम से अन्याय को उजागर करना। हमें अपनी खोखली राष्ट्रभक्ति को त्यागना होगा, जो केवल भगत सिंह की जयकार करने या गांधी की मूर्ति पर फूल चढ़ाने तक सीमित है; इसके बजाय, हमें उनके सिद्धांतों को जीना होगा, जैसे कि गांधी का सत्य और अहिंसा या भगत सिंह का साहस और बलिदान। हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारी चुप्पी और निष्क्रियता ने देश को कमजोर किया है, लेकिन हमारी जागरूकता और सक्रियता इसे सशक्त बना सकती है; उदाहरण के लिए, 2011 में अन्ना हजारे के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन ने दिखाया कि जब जनता एकजुट होती है, तो सिस्टम को बदलने की ताकत पैदा होती है। हमें अपने डर को त्यागना होगा, क्योंकि "जो डर में जीता है, वह कभी जीता नहीं"; इसके बजाय, हमें अपने भीतर की नैतिक शक्ति को जगाना होगा और यह विश्वास करना होगा कि हम बदलाव ला सकते हैं। हमें अपने समाज में छोटे-छोटे सुधारों से शुरुआत करनी होगी, जैसे कि अपने गांव में स्वच्छता अभियान चलाना, महिलाओं के लिए सुरक्षित माहौल बनाना, या जातिगत भेदभाव के खिलाफ जागरूकता फैलाना। हमें यह भी सुनिश्चित करना होगा कि हमारी अगली पीढ़ी डर, जातिवाद, और आत्महीनता के बजाय साहस, समानता, और आत्मसम्मान के साथ बड़ी हो; हमें अपने बच्चों को यह सिखाना होगा कि वे केवल अपने लिए नहीं, बल्कि समाज के लिए भी जिम्मेदार हैं। हमें अपनी प्राथमिकताओं को बदलना होगा; मंदिर बनाने के लिए चंदा देने के बजाय, हमें गरीब बच्ची की शिक्षा या शादी के लिए मदद करनी होगी, क्योंकि सच्ची राष्ट्रभक्ति दिखावे में नहीं, बल्कि समाज के कमजोर वर्गों को उठाने में है। हमें यह समझना होगा कि बदलाव एक दिन में नहीं आता, लेकिन हर छोटा कदम हमें उस दिशा में ले जाता है; उदाहरण के लिए, यदि हम अपने मोहल्ले में एक सामाजिक समूह बनाएं जो नियमित रुप से सामाजिक मुद्दों पर चर्चा करे और समाधान खोजे, तो यह स्थानीय

स्तर पर जागरूकता और एकता को बढ़ावा देगा। हमें अपनी लोकतांत्रिक संस्कृति को मजबूत करना होगा, जहां पंचायतें "मंदिर" न हों, बल्कि जवाबदेही और पारदर्शिता का प्रतीक हों, और जहां हर नागरिक को अपनी आवाज उठाने का हक हो। हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि हमारी ताकत हमारे संविधान में है, जो हमें समानता, न्याय, और स्वतंत्रता का अधिकार देता है; हमें इसका उपयोग करना सीखना होगा, जैसे कि RTI के माध्यम से सरकारी कार्यों की निगरानी करना या अदालतों के जरिए अन्याय के खिलाफ लड़ना। लेख का अंतिम संदेश गहरा और प्रेरक है: "जब हम अपने बच्चों को साहसी, ईमानदार, और जागरूक नागरिक बनाएंगे, तब ही भारत सशक्त होगा।" यह बदलाव आसान नहीं है, क्योंकि यह हमारी सदियों पुरानी मानसिकता, डर, और स्वार्थ को चुनौती देता है, लेकिन यह असंभव भी नहीं है; यदि हम अपने भीतर की नैतिक शक्ति को जगा लें, अपनी जिम्मेदारी को स्वीकार करें, और छोटे-छोटे कदमों के साथ समाज को बदलने की दिशा में आगे बढ़ें, तो हम एक ऐसा भारत बना सकते हैं जो न केवल विश्वगुरु कहलाए, बल्कि वास्तव में समृद्ध, एकजुट, और सशक्त हो। हमें यह विश्वास करना होगा कि हमारी हर आवाज, हर कदम, और हर प्रयास मायने रखता है, क्योंकि बदलाव की यह राह हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है, और इसे अपनाकर ही हम अपने देश को उस ऊंचाई तक ले जा सकते हैं जिसका हम सपना देखते हैं।

रूढ़िवाद

हम जिस समाज में रहते हैं, वह परंपराओं से बना है, लेकिन यह समझना बेहद जरूरी है कि सभी परंपराएं सही नहीं होतीं और हर परंपरा का पालन केवल इसलिए करना कि वह पुरानी है, यह हमारी सोच की सबसे बड़ी कमजोरी बन जाती है। दरअसल, रूढ़िवादी परंपराएं वे सामाजिक, धार्मिक, या पारिवारिक रीति-रिवाज होती हैं जिन्हें बिना सोचे-समझे पीढ़ी दर पीढ़ी अपनाया जाता है, और उनसे सवाल पूछना समाज में अपराध जैसा माना जाता है, लेकिन अब समय आ गया है जब हमें यह साहसिक प्रश्न उठाना चाहिए कि क्या ये परंपराएं आज के युग में प्रासंगिक हैं? क्या ये परंपराएं मानवता, तर्क और समानता के सिद्धांतों पर खरी उतरती हैं? नहीं। यह रूढ़िवादी परंपराएं हमारे समाज में जातिवाद को बढ़ावा देती हैं, स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव पैदा करती हैं, बच्चों की सोच को सीमित करती हैं और संकीर्ण मानसिकता को महिमामंडित करती हैं। उदाहरण के लिए, स्त्री को 'पराया धन' मानने की परंपरा हो, पति को परमेश्वर मानने जैसी अमानवीय क्रियाएं हो, दलितों को मंदिर में प्रवेश न देना, या फिर बच्चों को पूछे बिना विवाह तय कर देना—ये सभी परंपराएं न केवल अन्यायपूर्ण हैं बल्कि मानवीय गरिमा के भी विरुद्ध हैं। यह सोच कि "बुजुर्गों ने जो कहा वही ठीक है" या "धर्मग्रंथों में जो लिखा है वही अंतिम है" हमारी चेतना को जंजीरों में बाँध देती है और हमें तर्कशील, विवेकशील, और संवेदनशील बनने से रोकती है। जब कोई बच्चा सवाल करता है कि "क्यों केवल लड़कियों को पर्दा करना चाहिए?", "क्यों दलितों को मंदिर में घुसने नहीं देते?", "क्यों औरतों

को मांसाहार नहीं खाना चाहिए?", तो समाज उसे दुत्कार देता है, चुप करा देता है, और कहता है कि "ज्यादा सवाल न कर, यही रिवाज है", लेकिन यही 'रिवाज' तो है जो हमें पतन की ओर ले जा रहा है। एक परंपरा तभी तक ठीक है जब वह समय के साथ लोगों को जोड़ती है, लेकिन जब वही परंपरा समय के खिलाफ जाकर लोगों को तोड़ने लगे, विभाजन पैदा करने लगे, और अन्याय को सामान्य बना दे, तब वह परंपरा नहीं, शोषण की प्रणाली बन जाती है। आज भी भारत के लाखों गाँवों में बच्चे स्कूल नहीं जाते क्योंकि उन्हें खेत में काम करना है—यह भी एक परंपरा है, "बाप खेत जोतता था, बेटा भी जोतेगा", लेकिन क्या यह उचित है? क्या यह बच्चे के अधिकारों का हनन नहीं है? यही मानसिक गुलामी है जो रूढ़िवादिता का सबसे खतरनाक चेहरा है। जो परंपरा इंसान को स्वतंत्र सोचने से रोक दे, वह परंपरा नहीं जंजीर है; जो परंपरा एक महिला को उसके अधिकारों से वंचित करे, वह परंपरा नहीं अत्याचार है; और जो परंपरा गरीब को गरीब बनाए रखने के लिए धार्मिक भय दिखाए, वह परंपरा नहीं बल्कि एक सुनियोजित साजिश है। हम यह क्यों नहीं समझते कि परंपराएं मनुष्य ने बनाई हैं, ईश्वर ने नहीं? और मनुष्य अपने अनुभवों, समझ और विवेक से जो बनाता है, वह समय के साथ बदलना भी चाहिए। अगर परंपराएं न बदलतीं तो आज भी हम बैलगाड़ी से चलते, चिट्ठी भेजने के लिए कबूतर का इस्तेमाल करते, और औरतों को स्कूल में प्रवेश करने नहीं देते। लेकिन हमने बदलाव किया, और यही बदलाव ही विकास का पहला कदम है। परंतु समस्या तब पैदा होती है जब हम बदलाव को धर्म और संस्कृति के खिलाफ मानने लगते हैं। धर्म का कार्य भय पैदा करना नहीं, विवेक जागृत करना है; संस्कृति का कार्य समाज को पीछे खींचना नहीं, उसे सबके लिए समान और सुंदर बनाना है। लेकिन रूढ़िवादी परंपराएं धर्म और संस्कृति को हथियार बनाकर लोगों को गुमराह करती हैं। उदाहरण के लिए, जो कहावतें समाज में गढ़ी गई हैं—"लड़कों को रोना नहीं चाहिए", "बहू को ससुर के सामने सिर पर कपड़ा डालना चाहिए",

“औरतों की जगह रसोई में होती है”—ये सब सामाजिक गुलामी के प्रतीक हैं, और हमें इन्हें तोड़ना ही होगा, नहीं तो हमारी आने वाली पीढ़ियां वही पुरानी जंजीरों में जकड़ी रहेंगी, जो आज हमने अपने बुजुर्गों से ‘सम्मान’ के नाम पर विरासत में ली हैं। वास्तव में सम्मान वही है जो तर्क से अर्जित हो, अन्यथा वह डर है, और डर से चलने वाला समाज कभी विकसित नहीं होता। एक और उदाहरण लीजिए, कई घरों में आज भी कहा जाता है कि "मंगलसूत्र पहनना ज़रूरी है, तभी पति की उम्र बढ़ेगी", "अगर मंगलवार को बाल कटवाए तो अशुभ होगा", या फिर "रात में झाड़ू लगाने से लक्ष्मी चली जाती है"—ये सब कथित धार्मिक परंपराएं उस समय बनाई गई थीं जब विज्ञान और जानकारी सीमित थी, पर आज जब हम विज्ञान के युग में जी रहे हैं, तो इन परंपराओं को भी तार्किक कसौटी पर परखने की आवश्यकता है। इन सबके पीछे छिपा हुआ सच यह है कि इन परंपराओं का मूल उद्देश्य कभी ना कभी सामाजिक अनुशासन या सामूहिकता रहा होगा, लेकिन आज जब वे उद्देश्य ही बदल चुके हैं, तो परंपराओं को जस का तस ढोना हमारी मूर्खता है। हम अगर चाहते हैं कि हमारे बच्चे खुलकर सोचें, अपने सपनों को पहचानें और समाज को बदलें, तो हमें पहले खुद उन परंपराओं को त्यागना होगा जो उन्हें जकड़े हुए हैं। ज़रूरी नहीं कि हर परंपरा गलत हो, लेकिन यह ज़रूरी है कि हर परंपरा को सवालों की कसौटी पर परखा जाए, और जो परंपरा विवेक के खिलाफ हो, उसे तुरंत त्याग दिया जाए। हम केवल वही परंपराएं अपनाएं जो समानता, स्वतंत्रता, और बंधुत्व को बढ़ावा दें—जो इंसान को इंसान समझें, न कि जाति, लिंग, या वर्ग के आधार पर विभाजित करें। समाज तभी बदलेगा जब हम परंपराओं को निभाने के साथ-साथ उन्हें समझने की ज़िम्मेदारी भी उठाएँगे। अगर हम परंपरा के नाम पर चुप रह गए, तो हमारी खामोशी अगली पीढ़ी की बेड़ियाँ बन जाएगी।

लेकिन यदि हम इस विषय को और गहराई से देखें, तो यह साफ हो जाता है कि इन परंपराओं की जड़ें सिर्फ धार्मिक और सामाजिक संरचनाओं में ही नहीं, बल्कि हमारी मानसिकता, शिक्षा प्रणाली, मीडिया, और पारिवारिक व्यवस्था में भी गहराई से समाई हुई हैं। हमें यह समझना चाहिए कि रूढ़िवादिता एक ऐसी चुपचाप फैलती हुई बीमारी है जो धीरे-धीरे हमारे आत्मविश्वास, स्वतंत्रता और रचनात्मकता को खा जाती है। यह बच्चों की कल्पनाशक्ति को मार देती है, युवाओं की ऊर्जा को 'शालीनता' और 'संस्कार' के नाम पर दबा देती है, और महिलाओं को आज भी चौखट के भीतर ही सीमित रखने की कोशिश करती है। हम अपने घरों में अकसर यह सुनते हैं कि "अरे, हमारी लड़कियाँ ऐसे कपड़े नहीं पहनतीं", "हमारे परिवार में बेटियाँ बाहर नौकरी नहीं करतीं", "लड़कों को किचन का काम शोभा नहीं देता" — ये सब बातें परंपरा के नाम पर थोपी गई मानसिक कैद की निशानियाँ हैं। समाज इन्हीं रूढ़ियों के बल पर इस झूठे गर्व को पालता है कि "हमारे संस्कार बहुत गहरे हैं" जबकि सच्चाई यह है कि वही संस्कार आज युवाओं को आत्महत्या की ओर धकेल रहे हैं, क्योंकि वे खुद को खुलकर जी नहीं पा रहे। एक ऐसा समाज जो अपने बच्चों को सिर्फ अंक लाने की मशीन बना देता है, एक ऐसा समाज जो लड़की की शादी में दहेज के नाम पर माता-पिता को कर्ज के बोझ तले दबा देता है, और एक ऐसा समाज जो अपने बुजुर्गों की बात को 'ईश्वरीय आदेश' की तरह मानता है — वह समाज प्रगति नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, आज भी कई गाँवों में बच्चों की जाति देखकर उन्हें स्कूल में बैठने की जगह दी जाती है; आज भी औरतों के पीरियड्स के दिनों में उन्हें रसोई से बाहर कर दिया जाता है; आज भी लोग 'गोत्र' के नाम पर प्रेम को पाप मानते हैं। ये सब केवल परंपराएं नहीं, बल्कि उन मनुष्यों की बनाई हुई दीवारें हैं जिन्होंने अपने स्वार्थ और सत्ता को बचाए रखने के लिए एक सामाजिक ढांचा तैयार किया जिसमें समानता, तर्क और

स्वतंत्रता की कोई जगह नहीं है। हमें यह भी समझना होगा कि आज तकनीक और इंटरनेट के ज़माने में जब पूरी दुनिया वैश्विक नागरिकता की ओर बढ़ रही है, तब भी हम लोग अपनी बच्चियों को "घूंघट में रहना चाहिए" जैसे उपदेश दे रहे हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि हमारी सोच आज भी जंजीरों में जकड़ी हुई है। आधुनिक भारत में जब हम चंद्रयान और डिजिटल इंडिया की बात करते हैं, तब ये रूढ़िवादी परंपराएं हमें पीछे खींचती हैं। सोचिए, क्या यह विडंबना नहीं कि एक तरफ हम बेटियों को पढ़ाने की मुहिम चला रहे हैं, और दूसरी ओर उन्हीं परंपराओं को पाल रहे हैं जो उन्हें कमजोर और अधूरी मानती हैं? अब समय आ गया है कि हम न सिर्फ इन परंपराओं को चुनौती दें, बल्कि एक नई संस्कृति का निर्माण करें — जो परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन बैठाए, जो इंसान को उसकी सोच और कर्म के आधार पर परखे न कि उसके जन्म और लिंग के आधार पर। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि परंपराएं अपने आप में बुरी नहीं होतीं, लेकिन जब वे समय, परिस्थिति और मानवता के विरुद्ध जाकर काम करने लगती हैं, तब वे खतरे का रूप ले लेती हैं। इसलिए अगर हम सच में समाज में बदलाव चाहते हैं, तो शुरुआत अपने घर से करनी होगी — अपने बच्चों से, अपनी सोच से, अपने आचरण से। हमें अपने बच्चों को यह सिखाना होगा कि सवाल पूछना गुनाह नहीं है; हमें अपने समाज को यह बताना होगा कि परंपरा वहीं तक ठीक है जहाँ तक वह स्वतंत्रता और समानता को बाधित न करे; और हमें धर्म के ठेकेदारों से यह कहना होगा कि धर्म का मोल तब तक ही है जब तक वह मानवता से ऊपर नहीं उठता। आज जरूरत इस बात की है कि हम एक ऐसे सामाजिक आंदोलन की शुरुआत करें जो इन जड़ सोचों को उखाड़ फेंके, जो लोगों को यह बताने का साहस दे कि 'न' कहना भी अधिकार है, और हर वो परंपरा जो आपके मन, शरीर, आत्मा और स्वतंत्रता को कष्ट दे रही है, वह त्यागने योग्य है। हम यह भी देख रहे हैं कि कई बार ये परंपराएं गरीबों और पिछड़े वर्गों के लिए अधिक कठोर होती हैं क्योंकि उनके

पास न तो तर्क प्रस्तुत करने की ताकत होती है, न ही इन परंपराओं से बाहर आने की सामाजिक स्वीकृति। इसलिए यह दायित्व उन लोगों का है जो शिक्षित हैं, जागरूक हैं और जिन्हें समाज सुनता है कि वे सामने आएं और इन रूढ़िवादी दीवारों में दरार डालें। आज यदि हम यह तय कर लें कि हम आने वाली पीढ़ी को सिर्फ परंपराओं की विरासत नहीं बल्कि तर्क, विवेक और स्वतंत्रता की विरासत देंगे, तो यकीन मानिए, हमारे समाज का चेहरा बदल जाएगा। यह बदलाव आसान नहीं होगा क्योंकि हर बदलाव विरोध लाता है, और जब आप परंपरा के विरुद्ध खड़े होते हैं, तो पूरा समाज आप पर उंगलियाँ उठाता है। लेकिन यही तो वह समय होता है जब आप इतिहास लिखते हैं। जिन लोगों ने कभी सती प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई, जिन लोगों ने शिक्षा के अधिकार के लिए लड़ाई लड़ी, और जिन लोगों ने समान विवाह अधिकारों की बात की — वे सब आज इतिहास के पन्नों में सम्मानित हैं, जबकि उनके समय में वे 'संस्कृति-विरोधी' कहलाए थे। इसलिए आज अगर हम 'संस्कृति' के नाम पर अन्याय, भेदभाव और गुलामी को सही ठहरा रहे हैं, तो वह संस्कृति नहीं, केवल अंधविश्वास है। हमें यह भी समझना चाहिए कि सच्ची संस्कृति वही है जो समय के साथ बदलती है, जो विवेक को जगह देती है, जो इंसानियत के साथ चलती है। हमारी परंपराएं यदि इस कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, तो उन्हें छोड़ देना ही बेहतर है। और अंत में यही कहूँगा कि जो समाज केवल परंपरा पर गर्व करता है लेकिन वर्तमान को सुधारने का साहस नहीं रखता, वह केवल अतीत में जीता है और भविष्य के लिए मृत है। हमें अतीत से सीखना चाहिए, लेकिन उसी में जीते रहना खुद को मिटा देना है। इसलिए उठिए, सोचिए, सवाल कीजिए, और वह समाज बनाइए जिसमें परंपरा नहीं, तर्क, समानता और मानवता सर्वोपरि हो।

मेरा क्रांतिकारी बचपन

सच्ची क्रांति केवल किताबों, भाषणों या आंदोलनों से नहीं आती, वह जन्म लेती है उस क्षण जब कोई आम व्यक्ति, एक असामान्य परिस्थिति में, चुप रहने के बजाय बोलना चुनता है। मेरे (देवेंद्र यादव) जीवन की अनेक घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि यदि संकल्प हो, तो कोई भी आम इंसान समाज में एक असामान्य हलचल पैदा कर सकता है। यह अध्याय मेरे निजी अनुभवों का दस्तावेज़ है—ऐसे अनुभव, जिन्होंने उन्हें झकझोरा, बदला और एक जागरूक नागरिक बनने की दिशा में अग्रसर किया। इन घटनाओं के केंद्र में था एक बालक, जिसे न तो सामाजिक ताकत का सहारा था, न ही कोई राजनीतिक संरक्षण—उसके पास सिर्फ एक चीज़ थी: सच कहने की हिम्मत।

1. सातवीं कक्षा का बालक और मध्यान्ह भोजन की लड़ाई

जब में कक्षा 7 में थे, तब स्कूल में मध्यान्ह भोजन योजना के अंतर्गत छात्रों को भोजन उपलब्ध कराया जाता था। लेकिन जिस प्रकार से भोजन वितरित किया जाता था, वह न केवल नियमों की अवहेलना थी, बल्कि बच्चों के स्वास्थ्य के साथ सीधा खिलवाड़ था। खाने में गंदगी, अधपका भोजन, और कभी-कभी तो खाने के काबिल भी नहीं होता था। लेखक ने देखा कि जिनके हाथों में भोजन वितरण की जिम्मेदारी थी, वे या तो

लापरवाह थे या जानबूझकर बच्चों के साथ अन्याय कर रहे थे।

बाकी बच्चे तो चुपचाप यह सब सहन कर रहे थे, लेकिन मेंने निर्णय लिया कि यह अन्याय अब और नहीं सहा जाएगा। सबसे पहले मैने विद्यालय के प्रधानाध्यापक से बात की, लेकिन वहाँ से हमे सिर्फ आश्वासन मिला, कार्रवाई नहीं। फिर हमने एक ऐसा कदम उठाया जिसे एक बच्चा आमतौर पर नहीं उठाता—मैंने सीधे मुख्यमंत्री हेल्पलाइन पर शिकायत दर्ज की।

शिकायत दर्ज करने के कुछ दिनों बाद विद्यालय में एक बड़ा बदलाव देखा गया। भोजन समय पर आने लगा, मेन्यू के अनुसार पकाया जाने लगा, और खाना अब स्वादिष्ट और साफ-सुथरा होने लगा। लेकिन इस जीत के साथ आई एक नई चुनौती—परिवार और गाँववालों का सामाजिक दबाव। मेरे घर वालों ने कहा कि “दूसरों की बुराई मत करो”, “क्यों खुद मुसीबत बुला रहे हो?”, “किसी का नुकसान हो जाएगा तो कौन ज़िम्मेदार होगा?”। पर में वहां झुका नहीं। यह मेरा पहला कदम था एक ऐसे रास्ते की ओर, जहाँ हर मोड़ पर संघर्ष था, लेकिन आत्मा को सुकून देने वाला।

2. आंगनवाड़ी घोटाला – सच्चाई की कीमत

दूसरी घटना तब घटी मेंने देखा कि आंगनवाड़ी केन्द्रों में बच्चों को दिए जाने वाले पोषाहार, जैसे दलिया और खिचड़ी के पैकेट, वास्तव में बच्चों तक पूरे नहीं पहुँचते थे। आंगनवाड़ी कार्यकर्ता इन खाद्य पदार्थों की कालाबाज़ारी कर रही थीं, और जो बचता भी था वह या तो घटिया गुणवत्ता का होता या

सिर्फ दिखावे के लिए बनाया जाता।

इस बार भी मेंने हिम्मत दिखाई। ओर मैने इसकी लिखित शिकायत की, आवश्यक तथ्यों के साथ। लेकिन इस बार प्रतिरोध पहले से अधिक तीव्र था। कार्यकर्ता और उनके प्रभावशाली समर्थकों ने सामाजिक और पारिवारिक स्तर पर दबाव बनाना शुरु किया। मुझे डराया गया, बदनाम करने की कोशिश की गई, और यहाँ तक कहा गया कि "ये लड़का अभी छोटा हे ओर ऐसे काम कर रहा है तो बड़ा होकर क्या करेगा परिवार बालों का नाम मिट्टी में मिलाएगा, सबको बदनाम कर देगा।"

अंततः मुझे अपनी शिकायत वापिस लेनी पड़ी। यह हार नहीं थी, यह उन ताकतों की अस्थायी जीत थी जो वर्षों से बच्चों का पोषण लूट रही थीं। लेकिन इस घटना ने मेरे को एक सीख दी—सिस्टम के खिलाफ बोलना जितना ज़रूरी है, उतना ही ज़रूरी है खुद को मानसिक रुप से मजबूत बनाना। यह सीख मेरे जीवन की सबसे बड़ी पूंजी बनी।

3. ट्रैफिक पुलिस का शोषण और सामूहिक मानसिक गुलामी

तीसरी घटना तब की है जब में और मेरे दो दोस्त एक मोटरसाइकिल पर बिना हेलमेट सफर कर रहे थे। रास्ते में मुझे एक पुलिस कांस्टेबल ने रोक लिया। वह न केवल बिना हेलमेट गाड़ी चला रहा था, बल्कि उसने बिना किसी औपचारिक जांच के सीधे चालान की धमकी देना शुरु कर दी।

मैने सवाल उठाया—“जब आप खुद हेलमेट नहीं पहनते, तो हमें क्यों रोकते हैं?”, “क्या गरीब और स्थानीय लोग ही हमेशा नियमों का शिकार बनते हैं?”, “क्यों आप बिना रसीद के पैसे मांगते हैं?”। इन प्रश्नों से कांस्टेबल असहज हो गया और उसने लेखक का ₹2800 का चालान कर दिया—जो कि उस समय के हिसाब से एक साधारण गलती के लिए बहुत बड़ी रकम थी।

लेखक ने इसका वीडियो रिकॉर्ड किया और पुलिस अधीक्षक कार्यालय में शिकायत भी की। लेकिन वहां उन्हें धमकी दी गई कि “पुलिस का वीडियो बनाना गैरकानूनी है, तुम पर एफआईआर कर देंगे, तुम्हारा करियर खत्म हो जाएगा।” डर का माहौल बनाया गया, और अंततः उन्हें शिकायत वापिस लेनी पड़ी। यह घटना एक बार फिर दिखाती है कि कानून तब तक अंधा है जब तक जनता उसमें आँखें न दे।

4. एक सामान्य लहर में तैरता एक असामान्य नाविक

इन घटनाओं ने मेरे को झकझोर दिया, लेकिन तोड़ा नहीं। मैने देखा कि लोग सही बात कहने वाले को “पागल”, “बाग़ी”, या “समाज-विरोधी” कहते हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि कहीं उनकी निष्क्रियता उजागर न हो जाए। समाज में आमतौर पर यह मानसिकता पनप गई है कि "जो भी व्यवस्था से टकराता है, वो दुश्मन है"।

लेकिन मेंने तय किया कि चाहे कुछ भी हो, में झूठ का साथ नहीं दूंगा, सच्चाई के लिए खड़े होंगे, और जहां तक हो सके, अपने अनुभवों से दूसरों को भी प्रेरित करेंगे। मैने सीखा कि बदलाव अकेले आता है, लेकिन जब एक आवाज़ उठती है तो दूसरी उठने में देर नहीं लगती।

5. संदेश – हर घर में एक क्रांतिकारी छिपा है

में मानता हूं कि भगत सिंह, गांधी, सुभाष, लोहिया, मुलायम, या लालू कोई आकाश से नहीं टपके थे। वे भी आम घरों से आए थे—वैसे ही घर, जैसे आपके और हमारे। फर्क सिर्फ इतना था कि उन्होंने चुप रहना नहीं चुना। में कहता हूं कि हर गाँव, हर घर में एक क्रांतिकारी जन्म लेता है, लेकिन हम उसे "साधारण" बना देते हैं। उसकी बातों को मजाक उड़ाकर, उसकी नीयत पर शक करके, और सबसे बढ़कर—उसका साथ न देकर।

मेरा का मानना है कि यदि आपके गांव में कोई बच्चा या युवा अन्याय के विरुद्ध बोलता है, तो उसका साथ दीजिए। उसे रोके नहीं। यदि आप खुद हिम्मत नहीं कर सकते, तो कम से कम किसी और की हिम्मत की राह में बाधा मत बनिए।

6. निष्कर्ष: ये लड़ाई सिर्फ लेखक की नहीं, हम सबकी है

मेरी ये कहानियाँ केवल व्यक्तिगत संघर्ष की गाथाएँ नहीं हैं, ये उस सामूहिक चुप्पी पर सवाल हैं, जो इस देश को भीतर से खोखला कर रही है। जब एक

बच्चा स्कूल के खाने के लिए आवाज़ उठाता है, तो वह सिर्फ अपने लिए नहीं लड़ रहा होता—वह उस व्यवस्था को आईना दिखा रहा होता है, जो बच्चों को हीन समझती है। जब कोई ट्रैफिक पुलिस के भ्रष्टाचार के खिलाफ बोलता है, तो वह सिर्फ चालान के पैसे के लिए नहीं लड़ता—वह न्याय के लिए खड़ा होता है।

इसलिए यह अध्याय सिर्फ मेरी ही कहानी नहीं, यह एक मिशन है—आवाज उठाने का मिशन, सिस्टम से सवाल करने का मिशन, और एक नया भारत गढ़ने का मिशन। यह हम सभी से यह प्रश्न करता है कि:

"जब एक सातवीं कक्षा का बच्चा हिम्मत कर सकता है, तो हम क्यों नहीं?”

मानसिक गुलामी

मानसिक गुलामी वह अदृश्य जंजीर है जो मनुष्य को उसकी सोच, आत्मनिर्भरता, और स्वतंत्र चेतना से वंचित कर देती है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्ति अपने विचारों, मान्यताओं और निर्णयों को दूसरों की इच्छाओं, परंपराओं, सत्ता या डर के आधार पर जीता है। शारीरिक गुलामी से अधिक भयावह यह मानसिक दासता तब और भी खतरनाक हो जाती है जब व्यक्ति स्वयं इसे पहचान भी नहीं पाता। भारतीय गांवों के संदर्भ में मानसिक गुलामी आज भी गहराई से जमी हुई है। यह सिर्फ एक सामाजिक समस्या नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक बीमारी है जो पीढ़ियों से चलती आ रही है। जब कोई बच्चा पैदा होता है, तब वह पूर्णतः स्वतंत्र होता है। लेकिन जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, समाज, परिवार, जाति, धर्म, परंपरा और सत्ता उसके ऊपर अपनी परछाई डालने लगती है। उसे सिखाया जाता है कि क्या सोचना है, क्या मानना है, किससे दोस्ती करनी है, किससे दूरी बनानी है, क्या खाना है, कैसे बोलना है, क्या पढ़ना है, किसे पूजना है और किससे डरना है। यह सब कुछ इतनी सूक्ष्मता से होता है कि व्यक्ति को लगता है कि वह अपनी मर्जी से जी रहा है, जबकि वास्तविकता यह होती है कि वह दूसरों की मर्जी से जीने की मशीन बन चुका होता है।

भारत के गांवों में यह मानसिक दासता मुख्यतः जातिवाद, अंधविश्वास, लिंगभेद, धार्मिक कट्टरता और परंपराओं के अंध अनुसरण के रूप में दिखाई

देती है। उदाहरण के लिए, अगर किसी दलित बच्चे ने मंदिर में प्रवेश किया, तो उसे अपवित्र कह दिया जाता है। यदि कोई लड़की उच्च शिक्षा की इच्छा रखती है, तो कहा जाता है कि "लड़कियों का काम रसोई संभालना है।" अगर कोई युवक सवाल पूछे कि "भगवान किसने बनाया?", तो उसे नास्तिक और कुल-कलंक घोषित कर दिया जाता है। अगर कोई किसान कहे कि "हमारा भाग्य हमारे हाथ में है", तो उसे अहंकारी कहा जाएगा। यह मानसिक दासता केवल बाहरी दबाव से नहीं आती, बल्कि व्यक्ति खुद उसे अपनाता है क्योंकि उसे लगता है कि यही सही है।

मानसिक गुलामी का सबसे खतरनाक पहलू यह है कि यह शिक्षित और अशिक्षित, दोनों वर्गों को समान रूप से प्रभावित करती है। आज एक पढ़ा-लिखा नौजवान भी तब तक गुलाम है जब तक वह सोचने, तर्क करने और परंपराओं की विवेचना करने का साहस नहीं रखता। भारतीय गांवों में ऐसे लाखों युवक हैं जो इंजीनियरिंग और मेडिकल की पढ़ाई करते हैं, लेकिन जाति को लेकर उतने ही कट्टर हैं जितना कोई मध्ययुगीन ज़मींदार। यह दर्शाता है कि शिक्षा का मतलब सिर्फ डिग्री नहीं, बल्कि चेतना का जागरण होना चाहिए। परंतु जब शिक्षा खुद ही परीक्षा, मार्कशीट और रोजगार तक सीमित हो जाए, तो वह मानसिक स्वतंत्रता नहीं देती, बल्कि एक और प्रकार की गुलामी को जन्म देती है — जिसे 'अभिलाषा की गुलामी' कहा जा

सकता है।

जब कोई बच्चा स्कूल में यह सुनता है कि डॉक्टर, इंजीनियर, कलेक्टर बनो, लेकिन यह नहीं सीखता कि सत्य क्या है, नैतिकता क्या है, और स्वतंत्रता

क्या है — तब वह केवल नौकरी पाने की मशीन बनता है, इंसान नहीं। गांवों में बहुत सारे लोग ऐसे मिलते हैं जो आत्म-सम्मान की जगह समाज का डर लेकर जीते हैं। वे यह सोचते हैं कि अगर उन्होंने कुछ अलग किया तो लोग क्या कहेंगे। यह 'लोग क्या कहेंगे' वाली सोच मानसिक दासता की सबसे मजबूत दीवार है। व्यक्ति अपनी अंतरात्मा की आवाज़ को दबाकर समाज की आवाज़ सुनता है और वही करने लगता है जो सब कर रहे हैं। यही वह क्षण होता है जब एक स्वतंत्र जीव मात्र एक सामाजिक रोबोट बन जाता है।

भारत के गांवों में अंधविश्वास, बाबाओं की अंधभक्ति, जातिवादी भेदभाव, महिलाओं की दबी हुई स्थिति, धर्म के नाम पर भेदभाव, अशिक्षा और संचार के अभाव ने मानसिक गुलामी को स्थायीत्व प्रदान किया है। उदाहरणस्वरुप, जब कोई बच्चा बीमार होता है, तो लोग पहले झाड़-फूंक, ताबीज और बाबा के पास जाते हैं, अस्पताल को अंतिम विकल्प मानते हैं। इसी तरह, अगर किसी के घर में बेटी का जन्म होता है तो इसे अशुभ समझा जाता है, जबकि बेटा आने पर मिठाई बांटी जाती है। यह दर्शाता है कि मानसिक दासता केवल शिक्षा की कमी से नहीं, बल्कि चेतना के अभाव से उपजती है।

समस्या यह है कि जब एक गांव का युवा, जो अपनी जाति से ऊपर उठना चाहता है, धर्म से तर्क करना चाहता है, महिलाओं को बराबरी देना चाहता है — तो पूरा समाज उसके खिलाफ खड़ा हो जाता है। उसे 'बिगड़ गया लड़का', 'शहरी हवा का मारा हुआ', 'अपने संस्कार भूल गया' जैसे नामों से पुकारा जाता है। यह समाज की रक्षा नहीं, मानसिक गुलामी की रक्षा है। समाज

डरता है कि अगर एक ने सवाल पूछना शुरु कर दिया तो बाकी भी पूछने लगेंगे। इसलिए मानसिक गुलामी को परंपरा, संस्कृति और धर्म का जामा पहनाकर ज़िंदा रखा जाता है। यह गुलामी केवल सत्ता की मदद से नहीं चलती, बल्कि आम आदमी के सहयोग से चलती है। जब आम व्यक्ति अन्याय देख कर भी चुप रहता है, तो वह मानसिक गुलामी का समर्थक बन जाता है।

अब सवाल यह है कि इससे मुक्ति कैसे पाई जाए? सबसे पहला कदम है — **प्रश्न पूछना।** जो समाज प्रश्न नहीं करता, वह प्रगति नहीं करता। जब गांव का बच्चा यह पूछेगा कि "मैं मंदिर क्यों नहीं जा सकता?", "मेरी बहन क्यों नहीं पढ़ सकती?",

"भगवान क्या सच में डर का नाम है या प्रेम का?", "जाति क्या है?" — तब कहीं जाकर चेतना की चिंगारी जलेगी। दूसरा कदम है — **शिक्षा को सोचने का औजार बनाना।** बच्चों को सिर्फ गणित, विज्ञान, इतिहास न पढ़ाएं, उन्हें सोचने, तर्क करने, नैतिकता को समझने, और स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता दें। तीसरा कदम है — **संवाद की संस्कृति।** परिवार, स्कूल, पंचायत और मंदिर सब जगह संवाद हो, वाद-विवाद हो, ताकि लोग सवाल पूछने में डरें नहीं।

चौथा और सबसे ज़रुरी कदम है — **आत्मविश्वास।** जब गांव का युवक यह मानेगा कि "मैं जो हूं, वही पर्याप्त हूं। मुझे किसी जाति, परंपरा या धर्म का दास नहीं बनना," तब वह वास्तव में स्वतंत्र होगा।

ओशो कहते हैं, "मानसिक गुलामी शरीर की गुलामी से भी बदतर है, क्योंकि शरीर की जंजीरें तो लोहे की होती हैं, दिखाई देती हैं, लेकिन मन की जंजीरें अदृश्य होती हैं — और जब तक तुम्हें पता न चले कि तुम जकड़े हुए हो, तुम आज़ाद नहीं हो

सकते।" यही बात गांवों पर भी लागू होती है। जब तक गांव के लोग यह नहीं जानेंगे कि वे मानसिक रूप से गुलाम हैं, तब तक वे आज़ादी का स्वाद नहीं चख सकते।

मानसिक गुलामी का अंत तभी होगा जब गांव का युवा सिर्फ यह नहीं कहेगा कि 'हमारे पुरखे ऐसे करते थे', बल्कि यह पूछेगा कि 'क्या वे सही करते थे?' जब वह परंपरा की विवेचना करेगा, उसे आँख बंद करके नहीं मानेगा। जब वह कहेगा कि 'धर्म वह है जो प्रेम सिखाए, डर नहीं फैलाए', तब बदलाव संभव होगा। जब महिलाएं सिर्फ बहू और माँ नहीं, बल्कि स्वतंत्र विचार वाली इंसान के रूप में जानी जाएंगी, जब किसान सिर्फ ट्रैक्टर नहीं, बल्कि किताबें भी चलाएगा, जब मंदिर में भजन के साथ-साथ तर्क और विवेक की बात होगी — तब जाकर मानसिक गुलामी की नींव हिलेगी।

यह एक लंबी प्रक्रिया है — लेकिन शुरुआत आज, अभी, यहीं से हो सकती है। हर सवाल, हर संवाद, हर नई सोच मानसिक गुलामी की दीवार में एक दरार बनाती है। और जब दरारें बढ़ती हैं — तो चाहे कितनी भी पुरानी इमारत हो, गिर ही जाती है।

मानसिक आज़ादी

अब समय आ गया है कि हम केवल सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक आज़ादी की बात न करें, बल्कि मानसिक आज़ादी की दिशा में भी गंभीरता से सोचें। भारत आज़ाद हुआ, संविधान बना, वोटिंग का अधिकार मिला, शिक्षा और विकास की योजनाएँ आईं, लेकिन अगर आज भी एक आम नागरिक अपने अधिकारों के लिए खड़ा नहीं हो पाता, तो इसका कारण कहीं न कहीं उसकी मानसिक गुलामी है। यही वह गुलामी है जो किसी भी बदलाव की राह में सबसे बड़ी बाधा है। यह गुलामी हमें बताती है कि "हम कुछ नहीं कर सकते", "नेता सब चोर हैं", "जो हो रहा है, वैसे ही चलने दो", "अपने बच्चों को चुप रहने की तालीम दो", और "सिस्टम से मत टकराओ।"

आपने कभी सोचा है कि जब दलित आरक्षित सीटों पर सत्ता में आते हैं, तब भी वे डरते हैं, झुकते हैं, समझौता करते हैं – लेकिन सामान्य सीटों पर उनका पहुँचना लगभग असंभव क्यों है? इसका कारण यह है कि समाज आज भी उन्हें बराबरी का नागरिक नहीं मानता, और सबसे दुखद बात यह है कि कई बार वे खुद भी अपने आपको उस लायक नहीं समझते। यह आत्म-संकोच, यह आत्म-संदेह, मानसिक गुलामी का ही परिणाम है। जब तक हर व्यक्ति अपने भीतर छिपी शक्ति को नहीं पहचानेगा, तब तक किसी भी समाज में सच्चा बदलाव नहीं आएगा।

हर गाँव, हर घर में एक भगत सिंह, एक गांधी, एक लोहिया, एक सुभाष, एक मुलायम, एक लालू जन्म लेते हैं। लेकिन हम उन्हें आम आदमी बना देते हैं –

उनकी सोच को, उनके सवालों को, उनकी ईमानदारी को “बगावत” मानकर दबा देते हैं। जब कोई बच्चा ग़लत के खिलाफ बोलता है तो हम उसे चुप कराते हैं; जब कोई नौजवान भ्रष्टाचार पर सवाल उठाता है, तो हम कहते हैं – “तेरा क्या जाता है?”; और जब कोई महिला अन्याय का विरोध करती है तो हम कहते हैं – “घर की इज्ज़त मत बिगाड़।” यही हमारी विडंबना है – हम खुद कुछ नहीं करते और दूसरों को भी करने नहीं देते।

अब वक्त आ गया है कि हम यह मानसिकता बदलें। जो हम नहीं कर सकते, उसे कम से कम दूसरों को करने दें। अगर आप खुद खड़े नहीं हो सकते, तो उस व्यक्ति का साथ दीजिए जो खड़ा हो रहा है – क्योंकि वो सिर्फ अपने लिए नहीं, पूरे गाँव, पूरे समाज, और पूरे देश के लिए लड़ रहा है। जब किसी लड़के या लड़की में नेतृत्व की भावना दिखे, तो उसे कुचलिए मत, उसे प्रोत्साहन दीजिए। जब कोई बच्चा पढ़ाई में अच्छा कर रहा हो, तो जाति पूछने की बजाय उसे आगे बढ़ाइए। जब कोई ग़रीब बच्चा सपना देखे, तो उसका मज़ाक मत उड़ाइए – हो सकता है कि वही कल आपके गाँव का नाम रोशन करे।

हमें अब अपनों की टाँग खींचने की आदत छोड़नी होगी। हमें यह समझना होगा कि किसी के आगे बढ़ने से हमारा नुकसान नहीं होता, बल्कि हमारा समाज और मज़बूत होता है। अगर कोई आपके बीच से निकलकर नेता बनता है, अधिकारी बनता है, सामाजिक कार्यकर्ता बनता है – तो वह सिर्फ अपने परिवार का नहीं, पूरे गाँव और समाज का प्रतिनिधि बनता है। उसे गिराने की बजाय उसके साथ खड़े हों। यह वही भावना है जो भारत को एक बेहतर देश बना सकती है।

हमें अपने बच्चों को सिखाना होगा कि सवाल करना बगावत नहीं है, और न्याय माँगना अपराध नहीं है। हमें उन्हें यह बताना होगा कि जाति, धर्म, लिंग,

क्षेत्र इन सब सीमाओं से ऊपर उठकर मानवता, न्याय और समानता की बात करनी चाहिए। और सबसे ज़रूरी – हमें उन्हें यह एहसास दिलाना होगा कि वे जन्म से ही किसी से कमतर नहीं हैं, लेकिन वे तभी आगे बढ़ेंगे जब अपने भीतर के डर, भ्रम और संकोच को तोड़ पाएंगे।

अगर आज भी हम यह सोचते हैं कि “हमारे करने से क्या होगा?” तो यह हमारी सबसे बड़ी हार है। बदलाव की शुरुआत हमेशा एक व्यक्ति से होती है। गाँधी अकेले चले थे, भगत सिंह अकेले लड़े थे, लोहिया अकेले बोले थे – लेकिन उनके पीछे लाखों लोग जुड़ गए। आप भी बदलाव की शुरुआत बन सकते हैं – बस अपने भीतर की गुलामी को तोड़ दीजिए। आज ज़रूरत किसी नेता की नहीं, एक जागरूक नागरिक की है। देश तभी बदलेगा, जब हम खुद बदलेंगे। और जब हम बदलेंगे, तभी हमारा बच्चा भी बदलेगा, और तब एक नया भारत जन्म लेगा – मानसिक रुप से स्वतंत्र, आत्मविश्वासी और न्यायप्रिय।

समाप्त।



लेखक

देवेन्द्र यादव